उपाध्याय विनयविजय विरचित

शान्तसुधारस

सम्पादक/अनुवादक
शासनश्री मुनि राजेन्द्रकुमार

चिन्तन और अचिन्तन–दोनों भावधाराएं हमारे भीतर काम करती हैं। अचिन्तन साधना की निर्विकल्प पद्धति है, चिन्तन सविकल्प। प्रेक्षा जानने और देखने की पद्धति है, अनुप्रेक्षा चिन्तन और मनन करने की। क्या ध्यान करने वालों को भी चिन्तन करना आवश्यक है? जब यह प्रश्न सामने आता है तब सहसा यही निष्कर्ष निकलता है कि जितना अचिन्तन आवश्यक है, उतना ही आवश्यक है चिन्तन। जितनी प्रेक्षा आवश्यक है, उतनी ही आवश्यक है अनुप्रेक्षा। प्रेक्षा और अनुप्रेक्षा के योग से ही पूरी निष्पत्ति सामने आती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ अनुप्रेक्षा की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ को विविध राग-रागिनियों में गुम्फित कर इसमें अध्यात्मरस को उंडेलने का प्रयत्न किया है। इसमें सोलह अनुप्रेक्षाएं हैं। ये जैन-साधना पद्धति की आधारशिलाएं हैं। इनके सतत अनुचिन्तन से भीतर में होने वाली सुषुप्ति और मूर्च्छा का भाव क्षीण होता है, सचाई उपलब्ध होती है। साधना के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए यह लघु कृति जन-जन के लिए उपयोगी है।

शान्तसुधारस

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

उपाध्याय विनयविजय विरचित

शान्तसुधारस

(सोलह अनुप्रेक्षाओं में गुम्फित वैराग्यरस से
अनुभावित गेय काव्य)

सम्पादक/अनुवादक
शासनश्री मुनि राजेन्द्रकुमार

शान्तसुधारस

© आदर्श साहित्य संघ, नई दिल्ली

संपादक-अनुवादक : शासनश्री मुनि राजेन्द्रकुमार

प्रकाशक : आदर्श साहित्य संघ
२१०, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग
नई दिल्ली-११०००२

तीसरा संस्करण : जनवरी २०१२

मूल्य : *सत्तर रुपये*

मुद्रक : पायोराईट प्रिन्ट मीडिया प्रा. लि., उदयपुर २४१८४८२

SHANTSUDHARAS

Edited and translated by Muni Rajendra Kumar **RS. 70/-**

आशीर्वचन

'शान्तसुधारस' गीर्वाणवाणी में गेयकाव्य है। इसकी रचना हमारे संघ-निर्माण से पहले की है, पर इसका प्रचलन तेरापंथ धर्मसंघ में अधिक हुआ है। यहां इसके मूलस्रोत पूज्य गुरुदेव कालूगणी रहे हैं। उस समय शान्तसुधारस के दो-चार गीत पन्नों में लिखे हुए थे, गुरुदेव ने वे मुझको सिखलाए। प्रवचन के समय मेरे द्वारा उनका संगान करवाते और गुरुदेव स्वयं व्याख्या करते। गुरुदेव का स्वर्गवास होने के बाद मैंने इस ग्रन्थ की खोज करवाकर पूरा ग्रन्थ कंठस्थ किया। उसके बाद तो सैकड़ों साधु-साध्वियों ने इसको याद कर लिया।

शान्तसुधारस संगान में जितना मधुर है, उतना ही भावपूर्ण है। संगायक और श्रोता तन्मय होकर इसके प्रवाह में बह जाते हैं। इसका कोई हिन्दी अनुवाद नहीं था और यत्र तत्र पाठ की अशुद्धियां भी। कालान्तर में हमारे साधुओं ने इसका अनुवाद किया। पाठ-शोधन का काम युवाचार्य महाप्रज्ञ (आचार्य महाप्रज्ञ) के सान्निध्य में हुआ।

शिष्य मुनि राजेन्द्रकुमार ने शान्तसुधारस के सानुवाद सम्पादन का काम अपने हाथ में लिया। इसने अनुवाद के साथ-साथ भावनाबोधक कथाएं भी जोड़ दी, इससे यह अनुवाद सबके लिए सुबोध और सुप्राप्य हो गया।

मुनि राजेन्द्र धुन का धनी है, लगनशील है और तन्मयता से काम करता है। इसकी कार्यक्षमता उत्तरोत्तर वृद्धिंगत हो, यही शुभाशंसा है।

जोधपुर
२४ अक्टूबर, १९८४

आचार्य तुलसी
(गणाधिपति तुलसी)

प्रस्तुति

जैन-साधना-पद्धति में अनुप्रेक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रेक्षा से सत्य उपलब्ध होता है। अनुप्रेक्षा से पुराने संस्कारों का परिवर्तन होता है। धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान दोनों के साथ चार-चार अनुप्रेक्षाएं नियोजित हैं–

१. धर्म्यध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं–

- **एकत्व अनुप्रेक्षा**
- **अशरण अनुप्रेक्षा**
- **अनित्य अनुप्रेक्षा**
- **संसार अनुप्रेक्षा**

२. शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं–

- **अनन्तवृत्तिता अनुप्रेक्षा**
- **अशुभ अनुप्रेक्षा**
- **विपरिणाम अनुप्रेक्षा**
- **अपाय अनुप्रेक्षा**

आगम में एक साथ बारह अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख नहीं है। उत्तरवर्ती साहित्य में उनका समवेतरूप उपलब्ध है। उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में बारह अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख किया है। आचार्य कुन्दकुन्द का 'बारस अणुवेक्खा', स्वामीकुमार का 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' आदि अनेक ग्रन्थ बारह अनुप्रेक्षा के विषय में उपलब्ध हैं। उपाध्याय विनयविजयजी ने उसी परम्परा को विकसित कर 'शान्तसुधारस' नामक गेय काव्य की रचना की। इसमें सोलह अनुप्रेक्षाएं हैं। मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य–ये चार अनुप्रेक्षाएं पातंजल योगदर्शन तथा बौद्ध-साहित्य में हैं। जैन-साहित्य में ये विकीर्णरूप में हैं, पर अनुप्रेक्षा के आकार में इनका वर्गीकरण बहुत प्राचीन नहीं है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का रचनाकाल वि.सं. १७२३ और रचनास्थल गन्धपुर है। ग्रन्थकार का परिचय ग्रन्थ के प्रशस्ति पद्यों में इस प्रकार है–

हीरविजयसूरी के दो शिष्य थे–वाचक सोमविजय और वाचक कीर्तिविजय। ये दोनों सगे भाई थे। कीर्तिविजय के शिष्य थे उपाध्याय विनयविजयजी।

प्रस्तुत ग्रन्थ संस्कृत गेयकाव्य की परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण कृति है। प्रांजल भाषा, सशक्त अभिव्यक्ति, भाव की गम्भीरता और प्रसन्न शैली–ये सब विशेषताएं प्राप्त हैं। शान्तरस से परिपूर्ण इस रचना में प्रेरकशक्ति का प्रवाह है। उपाध्याय विनयविजयजी ने कुछ पद्य तो बहुत ही मार्मिक लिखे हैं। वे वर्तमान समस्या पर बड़े सटीक बैठते हैं।

बौद्धिक विकास और भावनात्मक विकास का सन्तुलन प्रेक्षाध्यान का सूत्र है। यह वर्तमान समस्या का समाधान है। उपाध्यायजी ने लिखा है–

स्फुरति चेतसि भावनया विना, न विदुषामपि शान्तसुधारसः।
न च सुखं कृशमप्यमुना विना, जगति मोहविषादविषाकुले।।

भावना के बिना विद्वान् के चित्त में शान्ति नहीं होती और उसके बिना सुख नहीं होता।

प्राथमिक समस्याओं का भी सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है–

प्रथममशनपानप्राप्तिवाञ्छाविहस्ता-
स्तदनु वसनवेश्मालङ्कृतिव्यग्रचित्ताः।
परिणयनमपत्याऽवाप्तिमिष्टेन्द्रियाऽर्थान्,
सततमभिलषन्तः स्वस्थतां क्वाऽश्नुवीरन्?।।

पहली समस्या रोटी और पानी की, फिर कपड़े की, मकान की, गहनों की, विवाह की, संतति की, इन्द्रियतृप्ति की। इनकी पूर्ति के प्रयत्न में मनुष्य स्वस्थ कैसे हो सकता है?

प्रस्तुत ग्रन्थ का अनुवाद मुनि राजेन्द्रकुमार ने किया है। उनमें अध्ययन की रुचि और कुछ नया करने का उत्साह है, लगन और श्रमनिष्ठा है। यह अनुवाद मूलस्पर्शी और भावस्पर्शी–दोनों है। आज तक के अनुवादों में यह सर्वाधिक प्रामाणिक हुआ है। हमारे धर्मसंघ में इस अनुप्रेक्षा ग्रन्थ के स्वाध्याय का बहुत प्रचलन है। इससे अनेक स्वाध्यायी लाभान्वित होंगे।

जोधपुर
१ अक्टूबर, १९८४

युवाचार्य महाप्रज्ञ
(आचार्य महाप्रज्ञ)

अर्हम्

शुभाशंसा

'शान्तसुधारस भावना' एक सुन्दर ग्रन्थ है। संस्कृतभाषा के विद्यार्थियों के लिए तो इसे कंठस्थ करना बहुत उपयोगी है। इसके अर्थ की अनुप्रेक्षा से वैराग्यभाव की वृद्धि हो सकती है।

शासनश्री मुनिश्री राजेन्द्रकुमारजी स्वामी ने इसका अनुवादन और सम्पादन कर इसे बहुत सुबोध और सरस बना दिया है। अध्यात्मरसिकों को यह ग्रन्थ पवित्र सम्पोषण प्रदान करे। शुभाशंसा।

केलवा (राजसमन्द)
२७ सितम्बर, २०११

आचार्य महाश्रमण

स्वकथ्य

मनुष्य आधि, व्याधि और उपाधि से अभिभूत बना हुआ त्रिकोणात्मक जीवन जी रहा है। आज की भाषा में कहा जा सकता है कि वह शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक रोग से पीड़ित है। शारीरिक और मानसिक रोगों की चिकित्सा के लिए नाना प्रकार की चिकित्सा-सुविधाएं उपलब्ध हैं। किन्तु भावनात्मक चिकित्सा के लिए स्वतन्त्र रूप से न कोई चिकित्सालय है, न कोई चिकित्सा और न कोई चिकित्सक। हमारी अस्वस्थता का मूल बिन्दु है–भावनात्मक अस्वास्थ्य। निषेधात्मक भाव प्रतिपल उस अस्वास्थ्य का सिंचन कर रहे हैं, फिर मनुष्य को स्वास्थ्य कहां से उपलब्ध हो सकता है?

उन निषेधात्मक भावों का उद्गमस्थल है–मस्तिष्क का वह अग्रभाग जिसे मेडिकल साइंस में हाईपोथैलेमस–भावनात्मक केन्द्र कहा जाता है। जितने भी आवेग-संवेग आदि भाव उभरते हैं उन सबका यही केन्द्रबिन्दु है। मनुष्य आधि-व्याधि की चिकित्सा करना जानता है, किन्तु उपाधि की चिकित्सा अभी तक भी उसके लिए अज्ञात बनी हुई है। एक प्रकार से सारी चिकित्सा प्रतिबिम्ब और प्रतिक्रिया की हो रही है। उपाधि तक पहुंचा ही नहीं गया। एक डॉक्टर शरीर की बीमारी का भलीभांति इलाज कर सकता है। एक मनोवैज्ञानिक मन की बीमारी को मिटा सकता है, किन्तु कषायात्मक–आवेग-संवेग आदि की चिकित्सा असाध्य और दुरूह है। अध्यात्म के आचार्यों ने इस मूलरोग की चिकित्सा के लिए कुछेक बिन्दुओं को खोजा, जिनमें ज्ञानयोग, दर्शनयोग, तपोयोग और भावनायोग परम उपयोगी सिद्ध हुए।

भावना या अनुप्रेक्षा एक आध्यात्मिक चिकित्सा-पद्धति है। यह जीवन को रूपान्तरित करने की प्रक्रिया है। जैन-साधना-पद्धति में दोनों का ही विशेष महत्त्व रहा है। जब तक भावधारा को नहीं बदला जाता तब तक मनुष्य का आचार और व्यवहार भी नहीं बदल सकता। पाश्चात्य देशों में भावधारा

का परिवर्तन करने के लिए ब्रेनवाशिंग (Brain washing) का प्रयोग किया जा रहा है तथा सजेस्टोलोजी के प्रयोग काम में लिए जा रहे हैं। मन की मूर्च्छा तोड़ने वाले विषयों का अनुचिन्तन करना अनुप्रेक्षा है और स्वयं को अनुप्रेक्षा से बार-बार भावित करना भावना है। साधना-जगत् में यह पद्धति कांटे से कांटा निकालने की है। जब तक मूढता का वलय नहीं टूटता तब तक यथार्थता प्रकट हो नहीं पाती, सचाई भीतर ही भीतर आवृत रह जाती है। अनुप्रेक्षा उस सचाई को प्रकट करने का एक साधन है। यथार्थता की ज्योति, जो मूर्च्छा की राख से ढंकी हुई है, उसे अनावृत करने का एक माध्यम है अनुप्रेक्षा।

वि.सं. २०३९, सन् १९८२। राणावास में चतुर्मास की घोषणा। आचार्य तुलसी (गणाधिपति तुलसी) लाडनूं में महावीर जयन्ती संपन्न कर चतुर्मास हेतु राणावास की ओर प्रस्थित हो गए। युवाचार्य महाप्रज्ञ (आचार्य महाप्रज्ञ) कुछ आवश्यक कारणों से कुछ समय के लिए जैन विश्व भारती, लाडनूं में रुके। तदनन्तर आपका प्रस्थान भी राणावास की ओर हो गया। कुछ दिनों से मेरे मन में एक प्रेरणा थी कि मैं 'शान्तसुधारस' काव्य को एक व्यवस्थित रूप दूं। मेरा वह स्वप्न अभी तक साकार नहीं हो पा रहा था। सहसा यात्रा का प्रसंग बना और सहज ही मुझे उस यात्रा के मध्य काम करने का अवसर प्राप्त हो गया। मैंने कुछ समय पूर्व ही 'श्रीभिक्षुशब्दानुशासनम्' महाव्याकरण का सम्पादन-कार्य पूरा किया था। अब मेरे पास अन्य ऐसा कोई काम नहीं था, जिसे मैं पदयात्रा में कर पाता। स्वयं के संस्कृत-विकास और आनन्दानुभूति के लिए मुझे यह उपक्रम अच्छा लगा। मैंने इस कार्य को प्रारम्भ कर दिया। 'बिचाऊ' ग्राम में मैंने इस काव्य के प्रथम श्लोक को अनूदित कर नमूने के तौर पर युवाचार्य महाप्रज्ञ (आचार्यश्री महाप्रज्ञ) के चरणों में निवेदित किया। युवाचार्यवर का संकेत रहा कि अनुवाद ऐसा होना चाहिए, जो कोरा शाब्दिक भी न हो और कोरा भावानुवाद भी न हो। दोनों का समन्वित रूप ही अनुवाद को सुन्दर बना सकता है। जहां तक बन सका, मैंने उसी शैली का अन्त तक निर्वहन किया। मैं अपना प्रतिदिन का अनुवाद-कार्य कर युवाचार्यवर के चरणों में उपस्थित हो जाता। युवाचार्यश्री जहां संशोधन और परिमार्जन की अपेक्षा होती वहां परिवर्तन करा देते। कार्य के साथ-साथ मेरा उत्साह भी बढ़ता गया। कार्य कुछ आगे बढ़ा। अनुवाद की संगति और छंदोनुबद्धता को ध्यान में रखकर युवाचार्यप्रवर के निर्देशानुसार

यत्र तत्र कुछ पाठों में भी परिवर्तन करना पड़ा। सत्यसंधित्सु के लिए ऐसा करना आवश्यक भी होता है। यह ग्रन्थ के गौरव का ही कारण बनता है। पाठ-संशोधन के कुछेक उदाहरण इस प्रकार हैं–

१. रिपुमपि सृजति वयस्यम् (गी. ९।३)।

इस चरण में व्याकरणदोष, अर्थ की विसंगति और लयदोष के कारण 'व्रजति' के स्थान पर 'सृजति' पाठ किया गया है।

२. पादौ यस्य व्यायतौ सप्तरज्जूः (गी. ११। श्लोक १)।

यहां अध्वनि अर्थ में 'सप्तरज्जूः' में द्वितीया विभक्ति की गई है। यदि इसे 'पादौ' का विशेषण मानकर स्वीकार करें तो अर्थ की अधिक संगति नहीं बैठती, क्योंकि इससे आगे के श्लोक में 'रज्जुमेकां' का प्रयोग द्वितीया विभक्ति का है।

३. सद्धर्मध्यानसंधान.... (गी. १३। श्लोक. १)।

इस श्लोक में पुनरुक्तदोष के कारण सद्ध्यान के स्थान पर संधान पाठ को लिया गया।

४. किं खिद्यसे वैरिधिया परस्मिन् (गी. १३। श्लो. ४)।

इस श्लोक के प्रथम चरण में 'सर्वत्र मैत्रीमुपकल्पय'...क्रियापद मध्यमपुरुष का प्रयोग हुआ है और चतुर्थ चरण में 'खिद्यते' क्रियापद प्रथमपुरुष का। इस विसंगति को मिटाने के लिए 'खिद्यसे' इस क्रियापद का निर्धारण किया गया।

५. प्रकल्प्य यन्नास्तिकतादिवादम्.... (गी. १५। श्लो. ५)।

इसके अगले चरण में 'परिशीलयन्तः' बहुवचन का प्रयोग हुआ है। यदि प्रकल्पयन् पाठ को माना जाए तो एकवचन का प्रयोग होता है और यदि इसका नास्तिकता.... के साथ समास किया जाए तो अर्थ की संगति नहीं बैठती। अतः हमने प्रकल्पयन् के स्थान पर 'प्रकल्प्य यन्' पाठ को लिया है।

इस प्रकार कुछेक स्थानों पर पाठ परिवर्तन हुआ। युवाचार्यवर (आचार्यवर) व्यस्त होते हुए भी समय-समय पर मुझे अपना बहुमूल्य समय देते। उनके इस अनुग्रह और वत्सलता के प्रति मैं अपना जो कुछ भी समर्पित करूं, वह बहुत थोड़ा है। जिनका सतत सान्निध्य और अन्तःप्रेरणा मेरे मानस

में अब भी प्रतिबिम्बित है, जिनके स्नेह ने मुझे निरन्तर आगे बढ़ाया, उन महामनीषी के प्रति यह तुच्छ लेखनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हुई कभी उस उपकार को नहीं भूल सकती।

अनुवाद के इस क्रम में राणावास का वह चतुर्मास सानन्द बीत गया और पुनः आचार्यश्री (गणाधिपति) एक लम्बी यात्रा पर गतिमान हो गए। नाथद्वारा में मर्यादा-महोत्सव संपन्न कर अहमदाबाद तथा बाव की यात्रा करते हुए बालोतरा चतुर्मास हेतु पधार गए। पुनः एक बार युवाचार्यश्री (आचार्यश्री) को स्वास्थ्यलाभ के लिए एक महीना अहमदाबाद में रुकना पड़ा और फिर माऊंट आबू होते हुए गणाधिपति के साथ ही बालोतरा पधार गए। कहीं मेरे कार्य में श्लथता आई तो कहीं तीव्रता। मैंने अपने प्रयत्न को निरन्तर जारी रखा और अन्ततः यह अनुवाद-कार्य बालोतरा में परिसंपन्न हो गया। इस लघुकृति में इतना अधिक समय लगा, यह मुझे बहुत अखरा, किन्तु पाठ और अनुवाद की सम्यक् युति मेरे लिए प्रमोद और अन्तस्तोष का विषय थी। मैंने अपनी ओर से अप्रमत्तदृष्टि से इसे अनूदित और संपादित करने का प्रयत्न किया है। ग्रन्थ की उपयोगिता के लिए पारिभाषिक शब्द तथा प्रत्येक भावना से संबंधित कथाओं को भी परिशिष्ट में जोड़ा है।

गणाधिपतिश्री तुलसी, जिनके कुशल नेतृत्व में तेरापंथ धर्मसंघ ने बहुत विकास किया, जिनके कुशल हाथों से अनेक साधु-साध्वियों का निर्माण हुआ, उनके निरन्तर सान्निध्य में रहकर मैं भी यत्किंचित् ऊर्जा का संचय कर सका, यह मुझे परम प्रसन्नता है।

मैं मुनि दुलहराजजी स्वामी को भी कैसे भूल सकता हूं, जिनके साहचर्य ने मुझे सदा उत्प्रेरित किया, जिनका पाथेय प्रतिपल मुझे मिलता रहा। उन्होंने अपना बहुमूल्य समय निकालकर इस ग्रन्थ का आदि से लेकर अन्त तक अवलोकन किया, इस अनुग्रह का भी अपना एक विशेष मूल्य है। आज वे मेरे समक्ष नहीं है। उनकी चिरस्मृतियां मेरे स्मृतिप्रकोष्ठों को निरन्तर झकझोर रही हैं।

सन् १९८४, लाडनूं में युवाचार्यप्रवर (आचार्य महाप्रज्ञ) ने महती कृपा कर यह ग्रन्थ साधु-साध्वियों और समणियों को पढ़ाया। इसके अध्यापन से एक प्रकार से ग्रन्थ का कायाकल्प हो गया। यत्र तत्र प्रमादवश जो भूलें इसमें रह गई थीं पुनः उनका संशोधन और परिमार्जन हो गया। इस कार्य में उस

समय के महाश्रमण मुनि मुदितकुमारजी (आचार्य महाश्रमण) ने मेरा बहुत सहयोग किया। मुनि धर्मेन्द्रकुमारजी का कथाओं के विषय में आवश्यक विमर्श और मुनि ऋषभकुमारजी का भी सतत सहयोग रहा, अतः वे दोनों साधुवाद के पात्र हैं।

प्रस्तुत आध्यात्मिक ग्रन्थ के प्रति सहज ही लोगों में एक आकर्षण है। जनभावना को देखते हुए मैंने पुनः इसका अवलोकन और निरीक्षण किया। अब इसका नवीन तृतीय संस्करण सुधी पाठकों के हाथों में पहुंच रहा है। मुनि जितेन्द्रकुमारजी की तत्परता और त्वरता भी इस कार्य में सहभागी बनी है। अतः वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

आचार्य महाप्रज्ञ का ९ मई २०१०, सरदारशहर गोठी भवन में आकस्मिक महाप्रयाण हो गया। उसके बाद तेरापंथ धर्मसंघ के यशस्वी, मनस्वी और महातपस्वी आचार्य महाश्रमण ग्यारहवें अधिशास्ता बने। उन्होंने ग्रन्थ के इस नवीन संस्करण के प्रति अपनी शुभाशंसा लिखकर मुझे उपकृत और अनुगृहीत किया है। मेरी मूक कृतज्ञता ही उनके प्रति सच्ची विनम्राञ्जलि है।

वैराग्यरस से आप्लावित यह सरस लघुकृति जन-जन के मन में वैराग्यरस की स्रोतस्विनी प्रवाहित करे, इसी मंगलकामना के साथ.....।

केलवा (राजसमन्द)
२८ सितम्बर, २०११

शासनश्री मुनि राजेन्द्रकुमार

अनुक्रम

१. अनित्य भावना	३
२. अशरण भावना	११
३. संसार भावना	१६
४. एकत्व भावना	२२
५. अन्यत्व भावना	२७
६. अशौच भावना	३२
७. आस्रव भावना	३८
८. संवर भावना	४३
९. निर्जरा भावना	४८
१०. धर्म भावना	५४
११. लोक भावना	६०
१२. बोधिदुर्लभ भावना	६७
१३. मैत्री भावना	७४
१४. प्रमोद भावना	८०
१५. कारुण्य भावना	८७
१६. माध्यस्थ्य भावना	९३
प्रशस्तिश्लोकाः	९७

परिशिष्ट

भावनाबोधक कथाएं

१. सब कुछ अनित्य है	१०१
२. धम्मं सरणं पवज्जामि	१०७
३. अमरत्व की खोज	१११

४. सुख है एकाकीपन में ११५
५. भेदविज्ञान ११८
६. आत्मा की आराधना १२०
७-८. जे आसवा ते परिस्सवा १२५
९. कृत का प्रायश्चित्त १३०
१०. दृढ़धर्मी अर्हन्नक १३५
११. उदय : अस्त १४०
१२. अनुराग : विराग १४२
१३. मैत्री का आयाम १४८
१४. कूरगडूक का ऊर्ध्वारोहण १५२
१५. करुणा : रूपान्तरण की प्रक्रिया १५५
१६. मुनि मेतार्य १५८

सांकेतिक कथाएं

१. सम्राट् भरत १६१
२. चक्रवर्ती का भोजन १६६
३. जमालि १६८

पारिभाषिक शब्द १७१

शान्तसुधारस

१. संकेतिका

मनुष्य दो आयामों में जीता है। एक आयाम है–संयोग का तो दूसरा आयाम है–वियोग का। संयोग में वह प्रसन्न होता है और वियोग में विषण्ण। **'संयोगाः विप्रयोगान्ताः'**–जिसका संयोग होता है उसका वियोग अवश्य होता है। यह एक सचाई है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस जगत् में ऐसा कोई भी पौद्गलिक पदार्थ नहीं है जो शाश्वत, ध्रुव और नित्य हो। अनुत्तर देवों के सुख भी कालक्रम से बीत जाते हैं, अपने प्रियजन बिछुड़ जाते हैं, धन-संपत्ति क्षीण हो जाती है। ऐसी स्थिति में शाश्वत और नित्य ही क्या है जिसका अवलम्बन लिया जा सके? संयोग वियोग से और वियोग संयोग से संवलित है। यह क्रम सदा से ही चला आ रहा है और यह संसार का सार्वभौम नियम है। जो मूढ़ व्यक्ति अज्ञान और मूर्च्छा में जीता है, विपर्यासों को पालता है, उसका दृष्टिकोण कभी सम्यक् नहीं हो सकता। यही मिथ्या दृष्टिकोण उसके दुःखी होने का निमित्त बनता है। जब उसके सामने वियोग की कोई घटना घटती है तो वह सोचता है कि ऐसा क्यों हुआ? वह सहसा दुःखी हो जाता है। यह संसार परिवर्तनशील है। जो आता है, निश्चित एक दिन जाता है। स्थिरता नाम का कोई तत्त्व है ही नहीं। सब कुछ अनित्य है। **'इमं सरीरं अणिच्चं'**–यह शरीर अनित्य है। धन, परिवार और यौवन अनित्य है। सुख-संपदा अनित्य है। सब कुछ अनित्य है। नित्य कुछ है ही नहीं, मात्र एक संयोग है–इस सचाई को जानने वाला व्यक्ति अमूढ़ होता है। वह कभी दुःख नहीं भोगता, केवल दुःख को जानता है। मूढ़ आदमी दुःख को जानता भी है और भोगता भी है, यही भेदरेखा मूढ़ और अमूढ़ की पहचान कराती है। भगवान् महावीर ने शरीर को मध्यबिन्दु बनाकर अनित्य अनुप्रेक्षा का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया–

से पुव्वं पेयं पच्छा पेयं भेउर-धम्मं, विद्धंसण-धम्मं, अधुवं, अणितियं, असासयं, चयावचइयं विपरिणाम-धम्मं, पासह एयं रूवं।

(आयारो, ५/२९)

—'तुम इस शरीर को देखो। यह पहले या पीछे एक दिन अवश्य ही छूट जाएगा। विनाश और विध्वंस इसका स्वभाव है। यह अध्रुव, अनित्य और अशाश्वत है। इसका उपचय और अपचय होता है। इसकी विविध अवस्थाएं होती हैं।'

इस अनित्य अनुप्रेक्षा को करने वाला मनुष्य यथार्थता के धरातल को पा लेता है और दुःख में से सुख निकाल लेता है। उसकी फलश्रुति है—

- **अनासक्ति का विकास।**
- **ममत्व का विलीनीकरण।**
- **मूढ़ता का अपनयन।**

अनित्य भावना

१. [1]नीरन्ध्रे भवकानने परिगलत्पञ्चाऽऽश्रवाम्भोधरे,
नानाकर्मलतावितानगहने मोहान्धकारोद्धुरे।
भ्रान्तानामिह देहिनां [2]स्थिरकृते कारुण्यपुण्यात्मभि-
स्तीर्थेशैः प्रथिताः सुधारसकिरो रम्या गिरः पान्तु वः।।

जिसमें चारों ओर पांच आस्रवरूपी मेघ बरस रहे हैं, जो विविध कर्मरूपी लताओं के विस्तार (आच्छादन) से गहन और मोहमय अन्धकार से परिव्याप्त है, ऐसे सघन संसार-अरण्य में भूले-भटके प्राणियों को सही मार्ग पर लाने के लिए करुणा से पवित्र आत्मा वाले तीर्थंकरों द्वारा कही हुई अमृतरस बरसाने वाली रम्य वाणी तुम्हारी रक्षा करे।

२. [3]स्फुरति चेतसि भावनया विना, न विदुषामपि शान्तसुधारसः।
न च सुखं कृशमप्यमुना विना, जगति मोहविषादविषाऽऽकुले।।

भावना के बिना विद्वानों के भी चित्त में शान्तसुधारस स्फुरित नहीं हो पाता। उसके अभाव में मोह और विषाद के विष से आकुल जगत् में स्वल्पमात्र भी सुख प्राप्त नहीं होता।

३. [4]यदि भवभ्रमखेदपराङ्मुखं, यदि च चित्तमनन्तसुखोन्मुखम्।
शृणुत तत्सुधियः! शुभभावनाभृतरसं मम शान्तसुधारसम्।।

हे सुधीजनो! यदि तुम्हारा चित्त संसार-भ्रमण के दुःख से विमुख और अनन्त सुख—मोक्ष के सम्मुख है तो तुम मेरे उस 'शान्तसुधारस' काव्य को सुनो, जो शुभ भावना के रस से भरा हुआ है।

---

१. शार्दूलविक्रीडित। २. हितकृते इति पाठान्तरम्। ३,४. द्रुतविलम्बित।

४. [1]सुमनसो! मनसि श्रुतपावना, निदधतां द्व्यधिका दश भावनाः।
यदिह रोहति मोहतिरोहिताऽद्भुतगतिर्विदिता समतालता।।

हे निर्मलचित्तवालो! तुम आगमवाणी से परिपूत बारह भावनाओं को अपने अन्तःकरण में स्थापित करो, जिससे कि मोह से तिरोहित, अद्भुत गतिवाली इस विश्रुत समतारूपी लता का अंकुरण हो सके।

५. [2]आर्त्तरौद्रपरिणामपावक-प्लुष्टभावुकविवेकसौष्ठवे।
मानसे विषयलोलुपात्मनां, क्व प्ररोहतितमां शमाऽङ्कुरः?

विषय-लोलुप प्राणियों के उस मानस में, जिसके कल्याणकारी विवेक की निर्मलता आर्त्त-रौद्रध्यानमय परिणामरूपी अग्नि से जल गई है, उसमें उपशम (शान्ति) का अंकुर उत्पन्न ही कहां होता है?

६. [3]यस्याशयं श्रुतकृताऽतिशयं विवेक-
पीयूषवर्षरमणीयरमं[4] श्रयन्ते।
सद्भावनासुरलता न हि तस्य दूरे,
लोकोत्तरप्रशमसौख्यफलप्रसूतिः।।

जिस प्राणी का आशय–चित्त आगमवाणी से विशिष्ट बना हुआ है, जो विवेकरूपी अमृतवर्षा से अत्यन्त रमणीय है, उस प्राणी का जब सद्भावनारूपी कल्पलता आश्रय लेती है तब उसके लिए परलोक में उपशम सुख के फल की उत्पत्ति दूर नहीं रहती।

७. [5]अनित्यताऽशरणते, भवमेकत्वमन्यताम्।
अशौचमाश्रवं चाऽऽत्मन्!, संवरं परिभावय।।

८. कर्मणो निर्जरां धर्मं, सुकृतां लोकपद्धतिम्।
बोधिदुर्लभतामेताः, भावयन् मुच्यसे भवात्।।युग्मम्।।

हे आत्मन्! तू अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशौच, आस्रव, संवर, कर्मनिर्जरा, धर्म, सुव्यवस्थित लोकपद्धति और बोधिदुर्लभता– इन बारह भावनाओं (अनुप्रेक्षाओं) का अनुचिन्तन करता हुआ भवमुक्त हो जाएगा।

१. द्रुतविलम्बित। २. रथोद्धता। ३. वसन्ततिलका। ४. विवेकः–सदऽसद्वस्तुविचारः, स एव पीयूषं, तस्य वर्षः–वृष्टिः, तेन रमणीया रमा–कान्तिर्यस्य, तम्। ५. अनुष्टुप्।

९. [1]वपुरवपुरिदं [2]विदभ्रलीलापरिचितमप्यतिभङ्गुरं[3] नराणाम्।
तदतिभिदुरयौवनाऽविनीतं, भवति कथं विदुषां महोदयाय?

मनुष्यों का यह शरीर ऐसा है कि मानो उसका अपना कोई अस्तित्व ही नहीं है। अत्यधिक लीलाओं से परिचित (पालित-पोषित) होने पर भी वह क्षणभंगुर है। वह कुछ समय में नष्ट हो जाने वाले यौवन से उच्छृंखल है। ऐसा शरीर विद्वानों के महान् विकास के लिए कैसे हो सकता है?

१०. [4]आयुर्वायुतरत्तरङ्गतरलं लग्नापदः सम्पदः,
सर्वेऽपीन्द्रियगोचराश्च चटुलाः सन्ध्याभ्ररागादिवत्।
मित्रस्त्रीस्वजनादिसङ्गमसुखं स्वप्नेन्द्रजालोपमं,
तत्किं वस्तु भवे भवेदिह मुदामालम्बनं यत्सताम्?

मनुष्य का जीवन वायु से उठती हुई ऊर्मियों की भांति चंचल है, सम्पदाएं विपत्तियों से ग्रस्त हैं, इन्द्रियों के सभी विषय संध्या के आकाश के रंगों की भांति चलायमान हैं, मित्र, स्त्री तथा स्वजनों के संयोग से मिलने वाला सुख स्वप्न और इन्द्रजाल की तरह क्षणिक है। इस संसार में ऐसी कौन-सी वस्तु है जो समझदार मनुष्यों के लिए प्रमोद का आलम्बन बन सके?

११. [5]प्रातर्भ्रातरिहावदातरुचयो ये चेतनाऽचेतनाः,
दृष्टा विश्वमनोविनोदविदुरा भावाः स्वतः सुन्दराः।
तांस्तत्रैव दिने विपाकविरसान् हा! नश्यतः पश्यत-
श्चेतः प्रेतहतं जहाति न भवप्रेमानुबन्धं मम।।

हे भाई! उज्ज्वलकांति वाले, सबके मन को बहलाने में कुशल तथा सहज सुन्दर जिन जड़-चेतन पदार्थों को मैंने प्रातःकाल देखा था, खेद है, वे सभी पदार्थ मेरे देखते-देखते उसी दिन परिणाम-विरस और नष्ट हो गए। फिर भी मेरा प्रेतग्रस्त मन संसार के स्नेह-बंधन को नहीं छोड़ रहा है।

गीतिका १ : रामगिरिरागेण गीयते—

मूढ! मुह्यसि मुधा मूढ! मुह्यसि मुधा,
विभवमनुचिन्त्य हृदि सपरिवारम्।
कुशशिरसि नीरमिव गलदऽनिलकम्पितं,
विनय! जानीहि जीवितमसारम्।।१।।

---

१. पुष्पिताग्रा। २. विदभ्र....विगतं दभ्रं—अल्पं यस्मात्। ३. भङ्गुरं—भज्यते स्वयमेव इत्येवंशीलं यस्य, तद्। ४,५. शार्दूलविक्रीडित।

हे मूढ पुरुष! तू व्यर्थ ही अपने मन में परिवार और ऐश्वर्य का अनुचिन्तन कर मोह में उलझ रहा है। हे विनय! तू इस जीवन को उसी प्रकार असार (अस्थिर) जान, जिस प्रकार कुश के अग्रभाग पर टिका हुआ जल-बिन्दु वायु द्वारा प्रकम्पित होने पर असार (अस्थिर) होता है।

पश्य भङ्गुरमिदं विषयसुखसौहृदं,
पश्यतामेव नश्यति सहासम्।
एतदऽनुहरति संसाररूपं रया-
ज्ज्वलज्जलवालिकारुचिविलासम्।।२।।

हे आत्मन्! तू वैषयिक सुखों की क्षणभंगुर सहचरता को देख, जो देखते-देखते ही हास्य के साथ नष्ट होने वाली है। विषयसुख का यह साहचर्य संसार के उस स्वरूप का अनुगमन करता है, जो तीव्रता से चमकने वाली विद्युत्-प्रकाश के विलास जैसा है।

हन्त! हतयौवनं पुच्छमिव शौवनं,[१]
कुटिलमति तदपि लघु दृष्टनष्टम्।
तेन बत! परवशाः परवशाहतधियः,[२]
कटुकमिह किन्न कलयन्ति कष्टम्?।।३।।

आश्चर्य है कि अर्थहीन यौवन कुत्ते की पूंछ की भांति बहुत कुटिल है। वह भी शीघ्र देखते-देखते नष्ट होने वाला है। खेद है, परस्त्रियों से अभिभूत मति वाले लोग उस यौवन के अधीन होकर किन-किन कड़वे कष्टों को नहीं झेलते?

यदपि [३]पिण्याकतामङ्गमिदमुपगतं,
भुवनदुर्जयजरापीतसारम्।
तदपि गतलज्जमुज्झति मनो नाङ्गिनां,
वितथमति[४] कुथितमन्मथविकारम्।।४।।

---

१. शौवनं–शुनः इदम्। २. पराभिः–अन्याभिः, वशाभिः–स्त्रीभिः–'वशा सीमन्तिनी वामा' (अभि. ३/१६८) हता धीर्येषां, ते....। ३. 'पिण्याकखलौ समौ' (अभि. ३/५८१)। ४. वितथं और अतिकुथित....इस प्रकार मानने पर इसका अर्थ होगा–अयथार्थ और अतिकुत्सित कामवासना।

जो शरीर खली बन चुका है, संसार में दुर्जेय बुढ़ापे ने जिसका सार चूस डाला है, फिर भी प्राणियों का वह निर्लज्ज और विपरीत चिंतनवाला मन कुत्सित कामवासना को नहीं छोड़ता।

सुखमनुत्तरसुराऽवधि यदतिमेदुरं,
कालतस्तदपि कलयति विरामम्।
कतरदितरत्तदा वस्तु सांसारिकं,
स्थिरतरं भवति चिन्तय निकामम्।।५।।

अल्पतम सुख की बात ही क्या, अनुत्तर-विमान के देवों के उत्कृष्ट सुख भी कालावधि से समाप्त हो जाते हैं। तब संसार की दूसरी कौन-सी वस्तु है, जो स्थिर रह सके, उसका तू यथेष्ट अनुचिन्तन कर।

यैः समं क्रीडिता ये च भृशमीडिताः,
यैः सहाऽकृष्महि प्रीतिवादम्।
तान् जनान् वीक्ष्य बत! भस्मभूयं[1] गतान्,
निर्विशंकाः स्म इति धिक् प्रमादम्।।६।।

जिन व्यक्तियों के साथ हमने क्रीड़ाएं कीं, जिनकी अत्यधिक स्तवनाएं कीं और जिनके साथ प्रेमपूर्ण आलाप किया, उन्हीं लोगों को भस्मीभूत हुए देखकर हम निःशंक हैं, यह महान् आश्चर्य है। इस प्रमाद[2] (विस्मृति) को धिक्कार है।

असकृदुन्मिष्य निमिषन्ति सिन्धू-
र्मिवच्चेतनाऽचेतनाः सर्वभावाः।
इन्द्रजालोपमाः स्वजनधनसङ्गमा-
स्तेषु रज्यन्ति मूढस्वभावाः।।७।।

जड़ और चेतन सभी पदार्थ समुद्र की लहरों की भांति बार-बार उत्पन्न होते हैं और विलीन हो जाते हैं। स्वजन और धन का संयोग इन्द्रजाल जैसा है। मूढप्रकृति वाले लोग उनमें अनुरक्त हो जाते हैं।

---

१. 'हत्याभूयं भावे'–(भिक्षु० ५/१/३७) इस सूत्र से भस्मशब्द के साथ भू धातु से भाव में क्यप् प्रत्यय का निपात हुआ है। २. 'प्रमादोऽनवधानता' (अभि. ६/१८)।

कवलयन्नविरतं जङ्गमाऽजङ्गमं,
जगदहो! नैव तृप्यति कृतान्तः।
मुखगतान् खादतस्तस्य करतलगतै-
र्न कथमुपलप्स्यतेऽस्माभिरन्तः?।।८।।

आश्चर्य है! यमराज चर-अचर (त्रस-स्थावर) जगत् को निरन्तर कवलित करता हुआ कभी तृप्त होता ही नहीं। वह मुख में आए हुए प्राणियों को खाता चला जा रहा है और हम उसके हाथ में आए हुए हैं, फिर हमारा अन्त कैसे नहीं होगा?

नित्यमेकं चिदानन्दमयमात्मनो,
रूपमभिरूप्य सुखमनुभवेयम्।
प्रशमरसनवसुधापानविनयोत्सवो,
भवतु सततं सतामिह भवेऽयम्।।९।।

मैं आत्मा के शाश्वत, अखण्ड तथा चिदानन्दमय स्वरूप का साक्षात्कार कर सुख का अनुभव करूं। इस संसार में शान्तरसरूपी अभिनव अमृतपान से होने वाला यह विनयोत्सव साधु-पुरुषों को निरन्तर उपलब्ध होता रहे।

२. संकेतिका

जीवन एक प्रवाह है। उसका आदि-बिन्दु है—जन्म, चरम-बिन्दु है—जरा, मृत्यु और मध्यवर्ती बिन्दु है—यौवन, रोग, शोक आदि। जीवन का प्रवाह जन्म से प्रारम्भ होता है और मध्यवर्ती बिन्दुओं को छूता हुआ मृत्यु तक पहुंच जाता है। मृत्यु जीवन की अनिवार्य और शाश्वत घटना है। जन्म लेने वाला कोई भी प्राणी इसका अपवाद नहीं रहा। जितने भी व्यक्ति इस संसार में आए, सभी ने मृत्यु का वरण किया। यदि इस जगत् में सबसे बड़ा कोई भय है तो वह है मृत्यु का भय। मनुष्य का अन्तःकरण मृत्यु का नाम सुनते ही भय से कांप उठता है। मृत्यु से मुक्ति पाने के लिए यदि कोई व्यक्ति वज्रमय घर में घुस जाए, मुंह में तिनका रखकर किसी की गाय बन जाए, पर्वत के शिखर पर चढ़ जाए तथा समुद्र के उस पार भी चला जाए तब भी यह यमराज किसी को नहीं छोड़ता। संसार का यह कितना बड़ा आश्चर्य है कि प्रतिदिन प्राणी मृत्यु का ग्रास बनते जा रहे हैं और उन्हें देखते हुए भी शेष प्राणी यही सोचते हैं कि वे तो सदा ही जीवित रहेंगे। जब मृत्यु की विभीषिका सिर पर मंडराती है तब छह खण्ड पर शासन करने वाले राजे-महाराजे भी शरण-परित्राण पाने के लिए कातरदृष्टि से दसों दिशाओं में झांकते हैं। बुढ़ापे की काली छाया से जीर्ण-शीर्ण बने हुए बड़े-बड़े अधिकारी दूसरों की सहायता खोजते हैं तथा रोग से आक्रान्त होकर सामन्त और धनाढ्य व्यक्ति भी राहु द्वारा ग्रसित चन्द्रमा की भांति कष्ट का अनुभव करते हुए दूसरों का मुंह ताकते हैं। पर उस समय उनके दुःख को बंटाने वाला, उन्हें शरण और परित्राण देने वाला कोई नहीं होता। व्यक्ति की मूढता है कि वह धन, पदार्थ और परिवार को ही अपना त्राण और शरण मानता चला आ रहा है। वास्तव में सचाई यह है कि वह अपने भीतर ही त्राण और शरण को खोजे। भगवान् महावीर ने कहा—

'नालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा।
तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा, सरणाए वा'।। (आयारो २/१७)

—'हे पुरुष! जिसको तुम अपना मान रहे हो वे स्वजन तुम्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हैं। तुम भी उन्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हो।'

अन्तिम सचाई यही है कि शरण केवल यह चतुष्टयी है—

अरहंते सरणं पवज्जामि।
सिद्धे सरणं पवज्जामि।
साहू सरणं पवज्जामि।
केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।

इस चतुष्टयी की शरण में जाने वाला व्यक्ति सब दुःखों से विमुक्त हो जाता है और वहां जाने का फलित है—

- **निर्लेपता और जागरूकता का विकास।**
- **परमार्थ का अनुचिन्तन।**
- **सत्यनिष्ठा और धर्म का जीवनगत उपयोग।**
- **अपनी अर्हताओं का विकास।**

अशरण भावना

१. [1]ये षट्खण्डमहीमहीनतरसा निर्जित्य बभ्राजिरे,
ये च स्वर्गभुजो भुजोर्जितमदा मेदुर्मुदा मेदुराः।
तेऽपि क्रूरकृतान्तवक्त्ररदनैर्निर्दल्यमाना हठा-
दत्राणाः शरणाय हा! दश दिशः प्रैक्षन्त[2] दीनाऽऽननाः।।

जो चक्रवर्ती राजा अपने प्रबल-पराक्रम से छह खण्ड भूमि पर विजय पाकर यशस्वी बने, प्रसन्नता से प्रमुदित जो देव अपने बाहुबल से गौरव पाकर हर्षोत्फुल्ल हुए, वे भी इस क्रूर यमराज के मुख की दाढ़ों से हठात् पीसे जाते हुए असहाय बन गए। खेद है कि उनके मुख पर दीनता टपक रही है और वे शरण पाने के लिए दशों दिशाओं में झांक रहे हैं।

२. [3]तावदेव मदविभ्रममाली[4], तावदेव गुणगौरवशाली।
यावदऽक्षम[5]कृतान्तकटाक्षैर्नेक्षितो विशरणो नरकीटः।।

जब तक मरणधर्मा मनुष्य-कीट पर यमराज की असह्य कटाक्ष-दृष्टि नहीं पड़ती तब तक ही वह अहंकार से भ्रूविक्षेप करने वाला और तब तक ही गुण-गौरव से मण्डित रहता है।

३. [6]प्रतापैर्व्यापन्नं गलितमथ तेजोभिरुदितै-
र्गतं धैर्योद्योगैः श्लथितमपि पुष्टेन वपुषा।
प्रवृत्तं तद्द्रव्यग्रहणविषये बान्धवजनैः,
जने कीनाशेन प्रसभमुपनीते निजवशम्।।

---

१. शार्दूलविक्रीडित। २. 'ईक्षङ् दर्शने' इति धातोः प्रथमपुरुषस्य बहुवचनान्तं दिबादिरूपम्। ३. स्वागता। ४. भौंहो के विकार को विभ्रम कहते हैं–
'हावो मुखविकारः स्यात्, भावश्चित्तसमुद्भवः।
विलासो नेत्रजो ज्ञेयो, विभ्रमो भ्रूसमुद्भवः'।।
५. अक्षम इति असहनीयः। ६. शिखरिणी।

जब यमराज मनुष्य को बलपूर्व अपने अधीन करता है तब उसका प्रताप विनष्ट हो जाता है, उदित तेज अस्त हो जाता है, धैर्य और उद्योग समाप्त हो जाते हैं, पुष्ट शरीर भी शिथिल पड़ जाता है और पारिवारिक जन उसका धन बटोरने में लग जाते हैं।

गीतिका २ : मारुणीरागेण गीयते–

स्वजनजनो बहुधा हितकामं प्रीतिरसैरभिरामं,
मरणदशावशमुपगतवन्तं रक्षति कोऽपि न सन्तम्।
विनय! विधीयतां रे! श्रीजिनधर्मः शरणं[१],
अनुसंधीयतां रे! शुचितरचरणस्मरणम्।।१।।

अनेक प्रकार से हित चाहने वाला प्रेमरस से रमणीय व्यक्ति भी जब मृत्यु-अवस्था के अधीन होता है तब कोई भी पारिवारिक जन उसकी रक्षा नहीं करता। अतः हे विनय! तू जिन-धर्म को शरण बना और पावन चरणों (पावन आचरण) वाले पुरुषों की स्मृति में मन का नियोजन कर।

तुरगरथेभनराऽऽवृतिकलितं, दधतं बलमस्खलितम्।
हरति यमो नरपतिमपि दीनं, मैनिक इव लघु मीनम्।।२।।

रंक की बात ही क्या, किन्तु जो राजा अश्वसेना, रथसेना, हस्तिसेना और पैदल सेना–इस चतुरंगिणी सेना से सुसज्जित है, जो निर्बाध पराक्रम को धारण किए हुए है, उस राजा को भी यह यमराज उसी प्रकार पकड़ लेता है जिस प्रकार मच्छीमार मच्छली को शीघ्रता से पकड़ता है।

प्रविशति वज्रमये यदि सदने, तृणमथ घटयति वदने।
तदपि न मुञ्चति हतसमवर्त्ती, निर्दयपौरुषनर्त्ती।।३।।

यदि कोई मनुष्य मौत के भय से वज्रमय घर में घुस जाता है, अपने मुख में तिनका ले लेता है, फिर भी क्रूर पौरुष से नाचने वाला यह अधम यमराज उसे नहीं छोड़ता।

---

१. विधीयतां....श्रीजिनधर्मः शरणं–यहां धर्म और शरण दोनों विशेष्य-विशेषण रूप में कर्म हैं। 'विधीयतां' कर्मवाच्य की क्रिया होने से 'धर्म' पद में प्रथमा विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

विद्यामन्त्रमहौषधिसेवां, सृजतु वशीकृतदेवाम्।
रसतु रसायनमुपचयकरणं, तदपि न मुञ्चति मरणम्।।४।।

भले कोई देवता को वश में करने वाली विद्या, मंत्र और महान् औषधि का सेवन करे, भले कोई शरीर को पुष्ट बनाने वाले रसायनों का प्रयोग करे, फिर भी मौत उसे नहीं छोड़ती।

वपुषि चिरं निरुणद्धि समीरं, पतति जलधिपरतीरम्।
शिरसि गिरेरधिरोहति तरसा, तदपि स जीर्यति जरसा।।५।।

भले कोई लम्बे समय तक अपने शरीर में श्वास रोक ले, भले कोई समुद्र के उस पार चला जाए और भले कोई त्वरा के साथ पर्वत के शिखर पर चढ़ जाए, फिर भी बुढ़ापे से वह जीर्ण हो जाता है।

सृजतीमसितशिरोरुहललितं, मनुजशिरो वलिपलितम्।
को विदधानां भूघनमरसं, प्रभवति रोद्धुं जरसम्।।६।।

काले-काले बालों से सुन्दर मनुष्य के सिर को यह बुढ़ापा झुर्रियों तथा सफेदी से भर देता है। ऐसा कौन व्यक्ति शक्तिशाली है, जो शरीर को विरस बनाते हुए बुढ़ापे को रोक सके?

उद्यत उग्ररुजा जनकायः, कः स्यात्तत्र सहायः।
एकोऽनुभवति विधुरुपरागं[1], विभजति कोऽपि न भागम्।।७।।

मनुष्य का शरीर जब प्रचंड रोग से ग्रस्त होता है तब उसके निवारण में कौन व्यक्ति सहायक बनता है? चन्द्र-ग्रहण के समय चन्द्रमा अकेला ही राहुग्रास का अनुभव करता है, कोई भी उसमें भागीदार नहीं बनता।

शरणमेकमनुसर चतुरङ्गं, परिहर ममतासङ्गम्।
विनय! रचय शिवसौख्यनिधानं, शान्तसुधारसपानम्।।८।।

हे विनय! तू चतुरंग—अर्हत्, सिद्ध, साधु तथा केवली द्वारा प्रणीत धर्म की शरण स्वीकार कर, ममता के संग को छोड़ और मोक्ष-सुख के लिए निधिरूप शान्तसुधारस का पान कर।

---

१. 'राहुग्रासोऽर्केन्द्वोर्ग्रह उपराग उपप्लवः' (अभि. २/३९)।

३. संकेतिका

अध्यात्म के मनीषियों ने इस संसार को दो रूपों में चित्रित किया है। उसका पहला रूप है—नाट्यशाला। संसार में आने का अर्थ है—इस नाट्यशाला में आना, अपना अभिनय प्रस्तुत करना और पुनः लौट जाना। भांति-भांति के अभिनय और भांति-भांति के अभिनेता। जितने अभिनय उतने अभिनेता। न अभिनयों की समानता और न ही अभिनेताओं की समानता। सभी अपने-अपने कर्मतन्तुओं से प्रेरित होकर अपना-अपना अभिनय प्रस्तुत कर रहे हैं। उन सबको संचालित करने वाला सूत्रधार है—यह कर्म। बड़ा विचित्र और बड़ा ही दक्ष। वह प्राणीमात्र को संसार के इस रंगमंच पर कठपुतली की भांति नचा रहा है। उसी के वशवर्ती होकर कभी यह मनुष्य बड़प्पन का अहंकार करता है तो कभी हीनता से दीन बन जाता है। कभी मोहरूपी मदिरा की प्याली पीकर नशे में झूम उठता है तो कभी शान्तरस का पान कर प्रीतिरस में डूब जाता है। कभी पूर्वजन्म का पुत्र पिता बन जाता है तो कभी पूर्वजन्म का पिता उसका पुत्र बन जाता है। कहीं स्वार्थ की टकराहट है तो कहीं धन की अभीप्सा। कहीं प्रलोभन है तो कहीं आंखमिचौनी। पर्यवेक्षक भी स्वयं अभिनेता और अभिनय करने वाला भी स्वयं पर्यवेक्षक। इतनी विविधताओं और इतनी विचित्रताओं में सिमटा हुआ यह संसार अपने आपमें कितना आश्चर्यकारी बना हुआ है?

संसार का दूसरा रूप है—महा-अरण्य। बड़ा भयानक, सघन तथा भटकाव उत्पन्न करने वाला। उसमें आने वाला व्यक्ति जन्म और मृत्यु से परिभ्रान्त होता है, जरा और शोक से संतप्त होता है, इन्द्रियतृष्णा तथा लोभ सें ग्रसित होता है तथा मानसिक-वाचिक-कायिक चिन्ताओं से चिंतित होकर पग-पग पर विपदाओं को झेलता है। उसमें कहीं सुख का लवलेश नहीं है, फिर भी मनुष्य अपनी मूढ़ता के कारण उसमें चारों ओर सुख खोजने का प्रयत्न कर रहा है। भगवान् महावीर ने संसार-मुक्ति के लिए कहा—

'संसयं परिजाणतो, संसारे परिण्णाते भवति।
संसयं अपरिजाणतो, संसारे अपरिण्णाते भवति'।। (आयारो, ५/९)

'संसार को वही जानता है, जो संशय को जानता है–जिसके मन में जिज्ञासा होती है। जो संशय को नहीं जानता, वह संसार को नहीं जान पाता।'

जब तक जन्ममरण की परम्परा के प्रति 'यह सुखद है अथवा दुःखद है'–मन में ऐसा विकल्प उत्पन्न नहीं होता, तब तक वह चलता रहेगा। जिसने उसे जान लिया वह उससे विलग हो गया। अतः संसार-मुक्ति के लिए प्रथम शर्त है–जिज्ञासावृत्ति का जागरण और उसके सहायक तत्त्व हैं–आत्मबल का विस्फोट, लक्ष्य के प्रति समर्पण और पथदर्शक की संप्राप्ति। आत्मबल का विस्फोटक है–शान्तसुधारस का साहचर्य, समर्पण का बिन्दु है–मुमुक्षाभाव तथा जिनवचन है–पथप्रदर्शक। जिसकी सहज निष्पत्तियां हैं–

- **अन्धकार से प्रकाश।**
- **राग से विराग।**
- **बन्धन से मुक्ति।**
- **आत्मा से परमात्मा।**

संसार भावना

१. [1]**इतो लोभः क्षोभं जनयति दुरंतो दव इवो-**

ल्लसल्लाभाम्भोभिः कथमपि न शक्यः शमयितुम्।

इतस्तृष्णाऽक्षाणां तुदति मृगतृष्णेव विफला,

कथं स्वस्थैः स्थेयं विविधभयभीमे भववने?

एक ओर अन्तहीन लोभ क्षुब्धता उत्पन्न कर रहा है। जैसे दावानल को बुझाना शक्य नहीं होता वैसे ही बढ़ते हुए लाभरूपी जल से लोभ को किसी भी प्रकार उपशांत नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर इन्द्रिय-तृष्णा चित्त को व्यथित कर रही है, जो मृग-मरीचिका की भांति विफल या अर्थशून्य है। ऐसे अनेक प्रकार के भयों से भयानक संसार-अरण्य में किस प्रकार प्राणी स्वस्थ रह सकता है?

२. [2]**गलत्येका चिन्ता भवति पुनरन्या तदधिका,**

मनोवाक्कायेहाविकृतिरतिरोषात्तरजसः।

विपद्गर्त्ताऽऽवर्ते झटिति पतयालोः प्रतिपदं,

न जन्तोः संसारे भवति कथमप्यर्तिविरतिः।।

व्यक्ति की एक चिन्ता पूरी होती है और पुनः उससे बड़ी अन्य चिन्ता उसके सामने उपस्थित हो जाती है। वह मानसिक-वाचिक-कायिक चेष्टा के विकार से उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष के कारण कर्मरजों का उपचय करता है और पग-पग पर एक के बाद एक दूसरे विपत्तिगर्त के आवर्त में तुरन्त गिर जाता है। अतः उस व्यक्ति का इस संसार में दुःख से छुटकारा किसी भी प्रकार नहीं होता।

१-२. शिखरिणी।

३. [1]सहित्वा सन्तापानशुचिजननीकुक्षिकुहरे,
ततो जन्म प्राप्य प्रचुरतरकष्टक्रमहतः।
सुखाऽऽभासैर्यावत् स्पृशति कथमप्यर्तिविरतिं,
जरा तावत् कायं कवलयति मृत्योः सहचरी।।

मनुष्य माता के अपवित्र गर्भावास में अनेक कष्टों को सहकर जन्म लेता है। उसके पश्चात् प्रचुर कष्टों की परम्परा से प्रताड़ित होता हुआ जब वह पौद्गलिक सुखानुभूति से किसी प्रकार दुःखनिवृत्ति के बिन्दु को छूता है तब मृत्यु-सखा बुढ़ापा शरीर को कवलित कर लेता है—घेर लेता है।

४. [2]विभ्रान्तचित्तो बत! बम्भ्रमीति, पक्षीव रुद्धस्तनुपञ्जरेऽङ्गी।
नुन्नो नियत्याऽतनुकर्मतन्तुसन्दानितः सन्निहितान्तकौतुः।।

सघनकर्मततुओं से प्रतिबद्ध और नियति से प्रेरित होकर यह प्राणी शरीर-रूपी पिंजरे में बंधा हुआ है। उसके समीप यमराजरूपी बिडाल खड़ा है। उसके भय से आकुल-व्याकुल बना हुआ वह उस पिंजरे में उसी प्रकार चक्कर काट रहा है जिस प्रकार बंदी बना हुआ पक्षी चक्कर काटता है।

५. [3]अनन्तान् पुद्गलावर्त्तानऽनन्ताऽनन्तरूपभृत्।
अनन्तशो भ्रमत्येव, जीवोऽनादिभवार्णवे।।

अनन्त-अनन्त रूपों को धारण करने वाला जीव इस अनादि संसार-समुद्र में अनन्त पुद्गलपरावर्तन (अनन्तकाल) तक अनन्त बार जन्म-मरण करता रहता है।

गीतिका ३ : केदाररागेण गीयते—

कलय संसारमतिदारुणं, जन्ममरणादिभयभीत रे!।
मोहरिपुणेह सगलग्रहं, प्रतिपदं विपदमुपनीत रे!।।१।।

हे पुरुष! तू इस संसार में जन्म-मरण आदि के भय से भीत बना हुआ है। मोहरूपी शत्रु तेरा गला पकड़कर तुझे पग-पग पर विपदा की ओर ढकेल रहा है। अतः तू अनुभव कर कि यह संसार अत्यन्त भयानक है।

स्वजनतनयादिपरिचयगुणैरिह मुधा बध्यसे मूढ रे!।।
प्रतिपदं नवनवैरनुभवैः, परिभवैरसकृदुपगूढ रे!।।२।।

---

१. शिखरिणी। २. इन्द्रवज्रा। ३. अनुष्टुप्।

हे मूढ पुरुष! इस संसार में स्वजन, पुत्र आदि का परिचय-सूत्र (रस्सी) व्यर्थ ही तुझे बांधे हुए है। पग-पग पर नये-नये तिरस्कारों का अनुभव बार-बार तुझे पकड़े हुए है।

घटयसि क्वचन मदमुन्नतेः, क्वचिदहो! हीनतादीन रे!।
प्रतिभवं रूपमपराऽपरं, वहसि बत! कर्मणाऽधीन रे!।।३।।

आश्चर्य है कि किसी क्षण तुम बड़प्पन का अहंकार करते हो और किसी क्षण हीनता से दीन बन जाते हो। तुम कर्मों के अधीन बने हुए हो, इसलिए जन्म-जन्मान्तर में भिन्न-भिन्न रूपों का निर्माण करते हो।

जातु शैशवदशापरवशो, जातु तारुण्यमदमत्त रे!।
जातु दुर्जयजराजर्जरो, जातु पितृपतिकराऽऽयत्त रे!।।४।।

कभी तुम शैशव अवस्था के अधीन हो जाते हो और कभी तारुण्य के गर्व से गर्वित। कभी तुम दुर्जय जरा से जर्जरित हो जाते हो और कभी यमराज के हाथों तले परतन्त्र।

व्रजति तनयोऽपि ननु जनकतां, तनयतां व्रजति पुनरेष रे!
भावयन् विकृतिमिति भवगतेस्त्यजतमां नृभवशुभशेष रे!।।५।।

पूर्वजन्म का पुत्र भी पिता बन जाता है और पुनः वही अगले जन्म में उसका पुत्र बन जाता है। तू इस जन्म-चक्र में होने वाले विविध परिवर्तनों का पर्यालोचन कर और उसके कारणों को छोड़। अभी भी तुम्हारे पास मनुष्य-जन्म के पुण्य बचे हुए हैं।

यत्र दुःखार्तिगददवलवैरनुदिनं दह्यसे जीव रे!।
हन्त! तत्रैव रज्यसि चिरं, मोहमदिरामदक्षीब रे!।।६।।

हे जीव! जिस संसार में शारीरिक और मानसिक कष्ट तथा रोगरूपी दावानल की चिनगारियों से तू प्रतिदिन जल रहा है, आश्चर्य है कि मोहरूपी मदिरा के नशे से उन्मत्त बना हुआ तू उसी संसार में चिरकाल तक अनुरक्त हो रहा है।

दर्शयन् किमपि सुखवैभवं, संहरंस्तदथ सहसैव रे!।
विप्रलम्भयति शिशुमिव जनं, कालबटुकोऽयमत्रैव रे!।।७।।

इस संसार में यह कालरूपी ठग मनुष्य को पहले सुख और वैभव दिखाता है, फिर अचानक ही उसको समेट लेता है। इस प्रकार वह बच्चे की भांति मनुष्य को ठग लेता है।

सकलसंसारभयभेदकं, जिनवचो मनसि निदधान रे!।
विनय! परिणमय निःश्रेयसं, विहितशमरससुधापान रे!।।८।।

हे विनय! तू संसार के समस्त भय को विनष्ट करने वाले जिनवचन को मन में धारण कर और शान्तरसरूपी अमृतरस का पान कर। इस प्रकार तू मोक्ष का वरण कर।

४. संकेतिका

द्वन्द्वात्मक जीवन में मनुष्य को जितना आनन्द और रस का अनुभव होता है उतना आनन्द और रस अकेलेपन में नहीं होता। दो होने का अर्थ है—संघर्ष, टकराहट और भय। दो मिलते हैं कि एक नई स्थिति का निर्माण हो जाता है। दो चकमक पत्थर मिले कि अग्नि के स्फुलिंग उछल गये। दो बादल मिले कि भयंकर गर्जन और विद्युत् कौंध गई और दो नक्षत्र मिले कि उल्कापात हो गया।

व्यक्ति ने सदा ही द्वन्द्वात्मक सृष्टि का निर्माण किया। जब वह इस जगत् में आता है तो सर्वप्रथम शरीर से सम्बन्ध स्थापित करता है, फिर परिवार के सदस्यों से अपना सम्पर्क जोड़ता है और फिर समाज और राष्ट्र के लोगों के साथ सम्बन्धों की योजना करता है। इस प्रकार एक से दो और दो से चार की निर्मिति हो जाती है और सम्बन्धों की नई दुनिया बनती जाती है। सम्बन्ध बनाने का अर्थ है—द्वन्द्व और द्वन्द्व का अर्थ है—ममकार की सृष्टि। जहां ममकार होता है वहां आसक्ति होती है, लगाव होता है। व्यक्ति परपदार्थ के परिग्रह में इतना उलझा हुआ है कि वह नाना प्रकार की ममताओं का भार ढोता चला जा रहा है। वह जितना भार ढोता है उतना ही मोह में निमज्जन करता जाता है।

आत्मानुभव करने वाले मनीषियों ने कहा—'यह आत्मा अकेली है, शेष सब पदार्थ उसकी परिधि और उपाधिमात्र हैं।' मनुष्य ने कभी अकेलेपन का अनुभव नहीं किया, इसलिए वह सत्य को उपलब्ध नहीं हो सका। कुछेक दार्शनिकों के सामने अभी भी एक प्रश्नचिह्न उपस्थित है—क्या सम्बन्धों की इस दुनिया में एकाकी रहना संभव है? क्या व्यवहार के धरातल पर अकेला बनकर कोई व्यक्ति जी सकता है? इसका उत्तर आत्म-रमण करने वाले लोगों ने दिया। उन्होंने कहा—भीड़ में भी व्यक्ति अकेला रह सकता है और अकेला रहता हुआ भी अकेला नहीं रह सकता। मनुष्य केवल शरीर, समाज और राष्ट्र की

परिधि में ही नहीं जीता, वह संस्कारों की दुनिया में भी जीता है। इन सबसे हटकर जिसे अपने अस्तित्व का बोध हो गया, उसने सचमुच समुदाय और व्यवहार-जगत् में रहकर भी एकाकी जीवन जीने की कला को सीख लिया। भगवान् महावीर ने एकाकी बनने का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया–

'एगो अहमंसि, न मे अत्थि कोइ, न याहमवि कस्सइ,
एवं से एगागिणमेव अप्पाणं समभिजाणिज्जा।'

(आयारो, ८/९७)

–'मैं अकेला हूं, मेरा कोई नहीं है, मैं भी किसी का नहीं हूं, इस प्रकार प्राणी अपने आपमें अकेलेपन का अनुभव करे।'

जिसने इस एकत्व अनुप्रेक्षा का अभ्यास किया वह अकेलेपन की भूमिका तक पहुंच गया। वहां जाने पर अनुभव होता है–

- **सामुदायिक जीवन में भी एकाकीपन।**
- **अनुस्रोत में प्रतिस्रोतगमन।**
- **निर्द्वन्द्वात्मक चेतना का अवतरण।**

एकत्व भावना

१. [1]**एक एव भगवानयमात्मा, ज्ञानदर्शनतरङ्गसरंगः।**
सर्वमन्यदुपकल्पितमेतद्, व्याकुलीकरणमेव ममत्वम्।।

ज्ञान-दर्शन की तरंगों से तरंगित यह भगवान् आत्मा अकेली ही है। शेष सब पदार्थ उपकल्पित हैं—सम्बन्ध स्थापित किए हुए हैं। उनके प्रति होने वाला यह ममत्वभाव ही व्याकुलता उत्पन्न कर रहा है।

२. [2]**अबुधैः परभावलालसा-लसदज्ञानदशावशात्मभिः।**
परवस्तुषु हा! स्वकीयता, विषयाऽऽवेशवशाद् विकल्प्यते।।

जिन व्यक्तियों की आत्मा परपदार्थ की लालसा से होने वाली अज्ञानदशा के अधीन है, ऐसे अज्ञानी व्यक्ति विषयों के आवेश के वशवर्ती होकर आत्मा से भिन्न पर-पदार्थ को अपना मानते हैं, यह खेद है।

३. [3]**कृतिनां दयितेति चिन्तनं, परदारेषु यथा विपत्तये।**
विविधार्तिभयावहं तथा, परभावेषु ममत्वभावनम्।।

जिस प्रकार परस्त्री के विषय में 'यह मेरी पत्नी है', ऐसा चिन्तन करना विज्ञजनों के लिए विपत्तिकारक होता है, उसी प्रकार परपदार्थों के प्रति ममत्वभाव—अपनेपन का अनुभव करना नाना प्रकार की पीड़ाओं और भयों को उत्पन्न करने वाला होता है।

४. [4]**अधुना परभावसंवृतिं, हर चेतःपरितोऽवगुण्ठिताम्।**
क्षणमात्मविचारचन्दन-द्रुमवातोर्मिरसाः स्पृशन्तु माम्।।

हे आत्मन्! चित्त पर चारों ओर से परदा डालने वाले परभाव के

---

१. स्वागता। २-३-४. वैतालीय।

आवरण अथवा कल्पना को तू अब दूर हटा, जिससे आत्मचिन्तनरूपी चन्दनवृक्ष का स्पर्श कर आने वाली वायु की ऊर्मियों से चूने वाले रस क्षणभर के लिए मुझे छू जाएं।

५. [1]**एकतां समतोपेतामेनामात्मन्! विभावय।**
लभस्व परमानन्दसम्पदं नमिराजवत्।।

हे आत्मन्! तू समतायुक्त इस एकत्व अनुप्रेक्षा का अनुचिन्तन कर, जिससे तू नमि राजा की भांति परम आनंद की संपत्ति को उपलब्ध हो सके।

गीतिका ४ : परजीयारागेण गीयते–

विनय! चिन्तय वस्तुतत्त्वं, जगति निजमिह कस्य किम्?
भवति मतिरिति यस्य हृदये, दुरितमुदयति तस्य किम्?।।१।।

हे विनय! इस संसार में किसके कौन-सी वस्तु अपनी है, इस वास्तविक सत्य का तू चिन्तन कर। जिसके अन्तःकरण में ऐसी मति उत्पन्न हो जाती है, क्या उस व्यक्ति के पाप उदित होते हैं?

एक उत्पद्यते तनुमानेक एव विपद्यते।
एक एव हि कर्म चिनुते, सैककः फलमश्नुते।।२।।

मनुष्य अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही कर्मों का संचय करता है और अकेला ही वह उनका फल भोगता है।

यस्य यावान् परपरिग्रह-विविधममतावीवधः।
जलधिविनिहितपोतयुक्त्या, पतति तावदसावधः।।३।।

जो परवस्तु के परिग्रह में होने वाली नाना प्रकार की ममताओं का जितना भार ढोता है वह व्यक्ति समुद्र में उतारी हुई नौका की भांति उतना ही नीचे चला जाता है–जलपोत में जितना भार होता है उतना ही वह पानी में डूब जाता है।

स्वस्वभावं मद्यमदितो[2], भुवि विलुप्य विचेष्टते।
दृश्यतां परभावघटनात्, पतति लुठति विजृम्भते।।४।।

---

१. अनुष्टुप्। २. मदी–हर्षग्लेपनयोः।

जिस प्रकार मनुष्य मदिरा में उन्मत्त होकर अपने स्वभाव को भूल जाता है और नाना प्रकार की चेष्टाएं करता है, उसी प्रकार परपदार्थ के संयोग से मनुष्य इस संसार में गिरता है, लुठता है और उबासियां लेता है, यह तू देख।

पश्य काञ्चनमितरपुद्गलमिलितमञ्चति कां दशाम्।
केवलस्य तु तस्य रूपं, विदितमेव भवादृशाम्।।५।।

तू देख, विजातीय तत्त्वों से मिश्रित सुवर्ण किस दशा को प्राप्त होता है! (वह विरूप-सा लगने लग जाता है।) उसका शुद्ध रूप कैसा होता है, यह आप जानते ही हैं।

एवमात्मनि कर्मवशतो, भवति रूपमनेकधा।
कर्ममलरहिते तु भगवति, भासते काञ्चनविधा।।६।।

इसी प्रकार आत्मा कर्म के अधीन होकर अनेक प्रकार के रूपों को धारण करती है। कर्ममल से रहित ज्ञानमय आत्मा सुवर्ण की भांति प्रभास्वर (केवल चैतन्यमय) बन जाती है।

ज्ञानदर्शनचरणपर्यवपरिवृतः परमेश्वरः।
एक एवाऽनुभवसदने, स रमतामविनश्वरः।।७।।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र की इस त्रिवेणी पर्यव से युक्त वह परमेश्वर, अविनाशी और अकेली (विशुद्ध या चैतन्यमय) आत्मा मेरे अनुभव के मंदिर में रमण करे।

रुचिरसमताऽमृतरसं क्षणमुदितमास्वादय मुदा।
विनय! विषयाऽतीतसुखरसरतिरुदञ्चतु ते सदा।।८।।

हे विनय! तू क्षणभर के लिए प्रकट उत्तम समतारूपी अमृतरस का उल्लास के साथ पान कर। विषय से अतीत सुख के रस से होने वाला तेरा आनन्द सदा बढता रहे।

५. संकेतिका

'मैं कौन हूं'—यह प्रश्न सदा से पूछा जाता रहा है और आज भी पूछा जा रहा है। जिसने यत्किंचित् अपने भीतर देखने का प्रयत्न किया, वह सचाई को उपलब्ध हो गया और उसने आत्मा को पा लिया। जिसने ऐसा प्रयत्न नहीं किया उसके लिए यह प्रश्नचिह्न सदा बना रहा। मनुष्य का जब से अभेदात्मक दृष्टिकोण रहा, उसने सजातीय-विजातीय, अपना-पराया, भला-बुरा आदि का विचार किए बिना ही सबको एक तराजू में तोला और सबको संग्रह नय की कसौटी पर ही कसा। अतः उसे जो प्राप्त होना चाहिए था वह प्राप्त नहीं हो सका। जब मनुष्य ने भेदात्मक दृष्टिकोण से पदार्थ की मीमांसा की, व्यवहार नय के आधार पर उसका विश्लेषण किया, उसे अपना स्वरूप उपलब्ध हो गया।

प्रत्येक पदार्थ अभेद और भेद की समष्टि है, इसलिए अभेद भी सत्य है और भेद भी सत्य है। द्रव्य भी सत्य है, पर्याय भी सत्य है। सत्य के दोनों रूप हमारे सामने हैं। अभेद से भेद और भेद से अभेद सर्वथा भिन्न नहीं हो सकता। दोनों वस्तुसापेक्ष हैं। अभेदोन्मुखी दृष्टि द्रव्य को स्वीकार करती है तो भेदोन्मुखी दृष्टि पर्याय को स्वीकार करती है।

'स्व' का स्वीकार तभी हो सकता है जब 'पर' को अस्वीकार किया जा सके। 'पर' को अस्वीकार करने का अर्थ है ममकार की ग्रन्थि का उच्छेद करना। आत्मा को उपलब्ध करने का उपाय है तोड़ते जाओ, भेद करते जाओ, अस्वीकार करते जाओ। शेष जो बचेगा वह वास्तविक होगा, परमार्थ होगा, परम सत्य होगा। कायोत्सर्ग भेद-विज्ञान की साधना है, ममकार को छोड़ने की प्रक्रिया है। जब तक देहासक्ति को नहीं छोड़ा जाता तब तक कायोत्सर्ग नहीं सधता। शरीर और आत्मा में भेदानुभूति के लिए आवश्यक है भेद-विज्ञान को समझना। **'आत्मान्यः पुद्गलश्चान्यः'**—यह अन्यत्व अनुप्रेक्षा का एक महत्त्वपूर्ण आलम्बन है। आत्मा अन्य है, शरीर अन्य है। पदार्थ मुझसे भिन्न हैं और मैं उनसे भिन्न हूं। कामभोग मुझसे भिन्न हैं और मैं उनसे भिन्न हूं। इस प्रकार अभेद में

से भेद निकालने पर भेद का वह चरम बिन्दु प्राप्त होगा जहां न कोई मलिनता है और न कोई विजातीय तत्त्व। वहां कोरा चैतन्य प्रभास्वर होगा और आत्मोपलब्धि का द्वार खुल जाएगा। मनुष्य के मन में निरन्तर रहने वाला 'मैं कौन हूं' यह प्रश्न भी सदा-सदा के लिए समाहित हो जाएगा। सहसा अन्तरात्मा में एक स्वर प्रस्फुटित होगा—

- **मैं चिदानन्द हूं।**
- **मैं ज्ञान-दर्शन स्वरूप हूं।**
- **मैं कालातीत, शब्दातीत और तर्कातीत हूं।**
- **मैं अविनाशी, एकाकी और कर्ममल से रहित विशुद्ध आत्मा हूं।**

अन्यत्व भावना

१. [1]**परः प्रविष्टः कुरुते विनाशं, लोकोक्तिरेषा न मृषेति मन्ये।**
निर्विश्य कर्माणुभिरस्य किं किं, ज्ञानात्मनो नो समपादि कष्टम्।।

'अपने घर में घुसा हुआ दूसरा व्यक्ति विनाश करता है'—यह लोकोक्ति मृषा नहीं है, ऐसा मैं मानता हूं। कर्मपुद्गल उस ज्ञानमय आत्मा में प्रविष्ट होकर उसे क्या-क्या कष्ट नहीं देते?

२. [2]**खिद्यसे ननु किमन्यकथार्त्तः, सर्वदैव ममतापरतन्त्रः।**
चिन्तयस्यनुपमान् कथमात्मन्! आत्मनो गुणमणीन्न कदापि।।

हे आत्मन्! तू दूसरों की कथा—वार्ता से पीड़ित होकर और सदा ही ममता से पराधीन होकर क्यों खिन्न हो रहा है? तू आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्रमय अनुपम गुणमणियों का क्यों कभी चिन्तन नहीं करता?

३. [3]**यस्मै त्वं यतसे बिभेसि च यतो यत्राऽनिशं मोदसे,**
यद्यच्छोचसि यद्यदिच्छसि हृदा यत्प्राप्य पेप्रीयसे।
स्निग्धो येषु निजस्वभावममलं निर्लोठ्य लालप्यसे,
तत्सर्वं परकीयमेव भगवन्नात्मन्! न किञ्चित्तव।।

हे ज्ञानमय आत्मन्! जिसके लिए तू प्रयत्न करता है, जिससे तू डरता है, जिसमें तू सतत मोद मनाता है, जिसके विषय में तू सोचता है, जिसको तू हृदय से चाहता है, जिसे पाकर तू प्रीणित होता है और जिन पदार्थों में आसक्त होकर तू अपने निर्मल स्वभाव को छोड़ प्रलाप करता है, वे सब पराए ही हैं, तेरा अपना कुछ भी नहीं है।

---

१. उपजाति। २. स्वागता। ३. शार्दूलविक्रीडित।

४. [1]दुष्टाः कष्टकदर्थनाः कति न ताः सोढास्त्वया संसृतौ,
तिर्यग्नारकयोनिषु प्रतिहतश्छिन्नो विभिन्नो मुहुः।
सर्वं तत्परकीयदुर्विलसितं विस्मृत्य तेष्वेव हा!,
रज्यन्मुह्यसि मूढ! तानुपचरन्नात्मन्! न किं लज्जसे?

हे आत्मन्! इस संसार-चक्र में तूने कितनी भयंकर कष्टों की प्रताड़नाओं को नहीं सहा? तिर्यञ्च और नरकयोनि में तू बार-बार मारा-पीटा गया, छिन्न-भिन्न किया गया। खेद है कि दूसरों द्वारा की हुई उन सब दुश्चेष्टाओं को भूलकर तू उन्हीं में अनुरक्त होता हुआ मूढ हो रहा है। हे मूढ! क्या तुझे उन पदार्थों का आसेवन करते हुए लज्जा का अनुभव नहीं होता?

५. [2]ज्ञानदर्शनचारित्रकेतनां चेतनां विना।
सर्वमन्यद् विनिश्चित्य, यतस्व स्वहिताऽऽप्तये।।

ज्ञान-दर्शन-चारित्र लक्षण वाली चेतना के बिना सब पराया है, ऐसा निश्चय कर तू अपने कल्याण की प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर।

गीतिका ५ : श्रीरागेण गीयते–

विनय! निभालय निजभवनं,
तनुधनसुतसदनस्वजनादिषु।
किं निजमिह कुगतेरवनम्?।।१।।

हे विनय! तू अपना घर देख। इस संसार में शरीर, धन, पुत्र, मकान और स्वजन आदि कौन-सा अपना है, जो दुर्गति से उबार सके।

येन सहाश्रयसेऽतिविमोहादिदमहमित्यविभेदम्।
तदपि शरीरं नियतमधीरं, त्यजति भवन्तं धृतखेदम्।।२।।

अत्यधिक विमूढता के कारण तू जिस शरीर के साथ 'यह मैं हूं' इस अभिन्नता का अनुभव कर रहा है, वही शरीर निश्चित ही तुझे छोड़ देता है, भले फिर तू कितना ही अधीर बन और कितनी ही दीनता का प्रदर्शन कर।

जन्मनि जन्मनि विविधपरिग्रहमुपचिनुषे च कुटुम्बम्।
तेषु भवन्तं परभवगमने, नानुसरति कृशमपि शुम्बम्।।३।।

---

१. शार्दूलविक्रीडित। २. अनुष्टुप्।

तू जन्म-जन्मान्तर में नाना प्रकार के पदार्थों का संग्रह करता है, कुटुम्ब का भरण-पोषण करता है। तेरे परलोक जाने के समय उनमें से एक पतला धागा भी तेरे साथ नहीं जाता।

त्यज ममतां परितापनिदानं, परपरिचयपरिणामम्।
भज निस्संगतया विशदीकृतमनुभवसुखरसमभिरामम्।।४।।

तू ममता को छोड़, जो परिताप का कारण है और जो दूसरों के साथ परिचय करने से उत्पन्न होती है। निर्लेपता से निर्मल बने हुए अभिराम अनुभव-सुखरस का तू अनुशीलन कर।

पथि पथि विविधपथैः पथिकैः सह, कुरुते कः प्रतिबन्धम्?
निजनिजकर्मवशैः स्वजनैः सह, किं कुरुषे ममताबन्धम्।।५।।

भिन्न-भिन्न मार्गों से जाने वाले यात्रियों के साथ कौन व्यक्ति पथ-पथ पर उनसे प्रतिबन्धित होता है? अपने-अपने कर्मों के अधीन बने हुए पारिवारिक जनों के साथ तू क्यों ममता का बन्धन कर रहा है?

प्रणयविहीने दधदभिषङ्गं, सहते बहुसन्तापम्।
त्वयि निष्प्रणये पुद्गलनिचये, वहसि मुधा ममतातापम्।।६।।

जिस प्रकार प्रेमविहीन व्यक्ति में अनुरक्त होता हुआ मनुष्य अनेक संतापों को सहता है, उसी प्रकार तेरे प्रति प्रेमशून्य इस पुद्गल-समूह में तू आसक्त बना हुआ व्यर्थ ही ममता के ताप को झेल रहा है।

त्यज संयोगं नियतवियोगं, कुरु निर्मलमवधानम्।
नहि विदधानः कथमपि तृप्यसि, मृगतृष्णाघनरसपानम्।।७।।

जिसका निश्चित वियोग होता है उस संयोग को तू छोड़ और अवधान (चैतसिक अवस्था) को निर्मल बना। मृगतृष्णा के जल को पीता हुआ तू किसी भी प्रकार अपनी प्यास नहीं बुझा पाएगा।

भज जिनपतिमसहायसहायं, शिवगतिसुगमोपायम्।
पिब गदशमनं परिहृतवमनं, शान्तसुधारसमनपायम्।।८।।

तू जिनेन्द्र-देव का स्मरण कर, जो असहायों के सहायक हैं और शिवगति-प्राप्ति के लिए सरल उपाय हैं। तू शान्तसुधारस का पान कर, जो शारीरिक और मानसिक रोगों का उपशमन करने वाला है तथा जिसका वमन नहीं होता—पीने के बाद जो भीतर रम जाता है और जो निर्दोष है।

६. संकेतिका

वैराग्य से ओत-प्रोत कुछेक आचार्यों ने शरीर को व्याधि-मन्दिर मानकर उसकी उपेक्षा की तो कुछेक परमार्थदर्शी आचार्यों ने इसे सारभूत मानकर धर्म-साधन के रूप में स्वीकार किया। दोनों ही दृष्टिकोण अपने-अपने स्थान पर उचित हैं। जब मनुष्य इस अशुचिमय शरीर में झरते हुए विविध स्रोतों को देखता है तब सहसा मन में घृणा का भाव उभर आता है। इस शरीर के भीतर है ही क्या? यह कोरा मांस, रक्त, हड्डी,वसा और मज्जा का ही तो ढांचा है, जो निरन्तर छिद्रयुक्त मदिरा के घट की भांति रिस रहा है। इसके अपवित्र रूप को देखकर सहज ही वैराग्य का स्रोत फूट पड़ता है। चिन्तन का यह एक कोण हो सकता है, किन्तु इसे समग्र सत्य नहीं कहा जा सकता।

शरीर को देखने का दूसरा दृष्टिकोण भी है कि यह कितना सारभूत है। जिन सात धातुओं से यह शरीर बना है, वे सभी नश्वर हैं। उस नश्वर शरीर में सारभूत तत्त्व की बातें करना अपने आपमें उपहास का कारण भले ही हो, किन्तु वह भी एक सचाई है। जब तक व्यक्ति अपने आपसे परिचित नहीं होता तब तक वह उसे निस्सार और व्यर्थ ही मानता है। न जाने यह शरीर कितने रहस्यों का कोश है? इसके भीतर कितने सारभूत तत्त्व विद्यमान हैं! कितने साइकिक सेन्टर, कितने चैतन्य केन्द्र, कितनी ग्रन्थियां और कितने रसायन इसके भीतर अपना काम कर रहे हैं! यदि उन्हें जागृत कर लिया जाए तो सारा शरीर ही अतीन्द्रिय ज्ञान का 'करण' बन सकता है। शरीर ही एक ऐसा माध्यम है जो आत्मा से परमात्मा तक और इन्द्रियज्ञान से अतीन्द्रियज्ञान तक पहुंचा सकता है।

आज के शरीरशास्त्री मानते हैं कि मनुष्य के शरीर में एक महत्त्वपूर्ण अवयव है—पृष्ठरज्जु (स्पाइनल कॉड), जो सभी प्राणियों में नहीं मिलता। यही एकमात्र सारी शक्तियों का भण्डार है। मनुष्य ने अभी तक अपने अज्ञान और मूर्च्छा के कारण उन शक्तियों का मूल्यांकन नहीं किया और न ही कभी अपने

भीतर उस सामर्थ्य को खोजने का भी प्रयत्न किया। अब तक उसका सारा ध्यान शरीर के बाह्य भाग तक ही सीमित रहा। बार-बार इस शरीर को स्नान कराना, सुगन्धित द्रव्यों और वस्त्राभूषणों से अलंकृत बनाना ही उसका लक्ष्य रहा है। भगवान् महावीर ने शरीर की यथार्थता को प्रकट करते हुए कहा—

'सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो'।।

(उत्तरज्झयणाणि, २३/७३)

—'शरीर एक नौका है, जीव नाविक है और संसार महासमुद्र है। महान् मोक्ष की एषणा करने वाला मनुष्य ही इस शरीररूपी नौका के द्वारा महासमुद्र को तर सकता है।'

शरीर को नौका मानने का यह दृष्टिकोण उसके सारभूत तत्त्व को प्रकट करने का दृष्टि-बिन्दु है।

शरीर की अशुचिता का चिन्तन भी यथार्थ की ओर ले जाता है। उस अशौच अनुप्रेक्षा की निष्पत्तियां हैं—

- **वैराग्य का प्रादुर्भाव।**
- **ममकार और आसक्तियों का विलीनीकरण।**
- **ज्ञात से अज्ञात की ओर प्रस्थान।**
- **अपनी शक्तियों से साक्षात्कार।**

अशौच भावना

१. [1]**सच्छिद्रो मदिराघटः परिगलत्तल्लेशसङ्गाऽशुचिः,**
शुच्याऽऽमृद्य मृदा बहिः स बहुशो धौतोऽपि गङ्गोदकैः।
नाधत्ते शुचितां यथा तनुभृतां कायो निकायो महान्,
बीभत्साऽस्थिपुरीषमूत्ररजसां नाऽयं तथा शुद्ध्यति।।

जिस प्रकार छिद्रयुक्त मदिरा का घड़ा रिसती हुई मदिरा की बूंदों के संसर्ग से अपवित्र हो जाता है, बाहर से शुद्ध मिट्टी द्वारा उसे मलकर बार-बार गंगाजल से धोने पर भी वह पवित्र नहीं बन पाता, उसी प्रकार मनुष्यों का यह शरीर, जो बीभत्स अस्थि, मलमूत्र और रज का बड़ा ढेर है, बाह्य साधनों से शुद्ध नहीं हो पाता।

२. [2]**स्नायं स्नायं पुनरपि पुनः स्नान्ति शुद्धाभिरद्भि-**
र्वारं वारं बत! मलतनुं चन्दनैरर्चयन्ते।
मूढात्मानो वयमपमलाः प्रीतिमित्याश्रयन्ते,
नो शुद्ध्यन्ते कथमवकरः शक्यते शोद्धुमेवम्?

आश्चर्य है कि जो लोग शुद्धजल से शरीर को मलमलकर बार-बार नहाते हैं, मलिन शरीर को बार-बार चन्दन से अर्चित करते हैं, वे मूढ आत्मा वाले लोग मन में खुश हो जाते हैं कि हम मैलविहीन बन गए। वस्तुतः वे शुद्ध नहीं होते। क्या उकरड़े को इस प्रकार शुद्ध किया जा सकता है?

३. [3]**कर्पूरादिभिरर्चितोऽपि लशुनो नो गाहते सौरभं,**
नाजन्मोपकृतोऽपि हन्त! पिशुनः सौजन्यमालम्बते।
देहोप्येष तथा जहाति न नृणां स्वाभाविकीं विस्रतां,
नाभ्यक्तोऽपि विभूषितोऽपि बहुधा पुष्टोऽपि विश्वस्यते।।

---

१. शार्दूलविक्रीडित। २. मन्दाक्रान्ता। ३. शार्दूलविक्रीडित।

आश्चर्य है, कपूर आदि सुवासित पदार्थों से अर्चित होने पर भी लहसुन सुगन्धित नहीं होता, दुर्जन व्यक्ति जीवनभर उपकार किये जाने पर भी सुजनता का आलंबन नहीं लेता। उसी प्रकार मनुष्यों का यह शरीर भी स्वाभाविक अपवित्रता को नहीं छोड़ता। यह तैलमर्दित, वस्त्राभूषणों से विभूषित और बार-बार खाद्य-पदार्थों से पुष्ट होने पर भी विश्वसनीय नहीं बनता।

४. [1]**यदीयसंसर्गमवाप्य सद्यो, भवेच्छुचीनामशुचित्वमुच्चैः।**
अमेध्ययोनेर्वपुषोऽस्य शौचसंकल्पमोहोऽयमहो! महीयान्।।

जिस शरीर का संसर्ग पाकर पवित्र पदार्थ तत्काल अत्यधिक अपवित्र हो जाते हैं, उस अपवित्र स्रोत वाले इस शरीर के लिए पवित्र होने का संकल्प करना महान् मूढता है, महान् आश्चर्य है।

५. [2]**इत्यवेत्य शुचिवादमतथ्यं पथ्यमेव जगदेकपवित्रम्।**
शोधनं सकलदोषमलानां, धर्ममेव हृदये निदधीथाः।।

'यह शरीर स्नान आदि से पवित्र होता है'—इस शुचिवाद को तुम मिथ्या जानकर धर्म को ही अपने अन्तःकरण में धारण करो, जो पथ्य है, (मोक्षमार्ग के लिए हितकर है) जगत् में एकमात्र पवित्र और सभी दोषरूपी मलों का शोधन करने वाला है।

गीतिका ६ : आशावरीरागेण गीयते—

भावय रे! वपुरिदमतिमलिनं,
विनय! विबोधय मानसनलिनम्।
पावनमनुचिन्तय विभुमेकं,
परममहोमय [3]मुदितविवेकम्।।१।।

हे विनय! यह शरीर अतिमलिन है, इसका तू चिन्तन कर, अपने मानसरूपी कमल को विकस्वर कर और अपने घट में रहने वाले उस परमात्मा का ध्यान कर, जो पवित्र है, एकाकी है और परमज्योतिर्मय तथा जागृतविवेक वाला है।

दम्पतिरेतोरुधिरविवर्त्ते, किं शुभमिह मलकश्मलगर्त्ते।
भृशमपि पिहितं स्रवति विरूपं, को बहुमनुतेऽवस्करकूपम्।।२।।

१. उपेन्द्रवज्रा। २. स्वागता। ३. 'भा मयूखमहसी...' (अभि. २/१४)।

पति-पत्नी के वीर्य और रज से निर्मित तथा मैल से मलिन बने हुए इस शरीररूपी गर्त में शुभ क्या है? जो (चमड़ी आदि से) अत्यन्त आच्छादित होने पर भी विरूप (मलमूत्र आदि) पदार्थों का स्रवण कर रहा है। अवस्कर (मलमूत्र) के कुएं को कौन बहुमान दे सकता है?

भजति सचन्द्रं[1] शुचिताम्बूलं, कर्तुं मुखमारुतमनुकूलम्।
तिष्ठति सुरभि कियन्तं कालं, मुखमसुगन्धि जुगुप्सितलालम्।।३।।

व्यक्ति मुख को सुवासित करने के लिए कपूरयुक्त बढ़िया पान चबाता है, किन्तु जो मुख असुगन्धित हो और जिसमें जुगुप्सित लार टपक रही हो, उसमें वह सुगन्ध कितने समय तक टिक पाती है?

असुरभिगन्धवहो[2]ऽन्तरचारी, आवरितुं शक्यो न विकारी।
वपुरुपजिघ्रसि वारं वारं, हसति बुधस्तव शौचाचारम्।।४।।

इस शरीर के भीतर चलने वाली विकारपूर्ण और असुगन्धित वायु को रोका नहीं जा सकता, फिर भी तू बार-बार इस शरीर को सुरभित करता है। तेरे इस शुचि बनाने वाले आचरण पर समझदार लोग हंसते हैं।

द्वादशनवरन्ध्राणि निकामं, गलदऽशुचीनि न यान्ति विरामम्।
यत्र वपुषि तत्कलयसि पूतं, मन्ये तव नूतनमाकूतम्।।५।।

जिस शरीर में (स्त्री के शरीर में) बारह और (पुरुष के शरीर में) नौ छिद्र अत्यधिक अशुचि का क्षरण कर रहे हैं, जो कभी विराम नहीं लेते, उसको तू पवित्र बना रहा है। यह तेरा नया ही चिन्तन है, ऐसा मैं मानता हूं।

अशितमुपस्करसंस्कृतमन्नं जगति जुगुप्सां जनयति हन्नम्।
पुंसवनं धैनवमपि लीढं, भवति विगर्हितमति जनमीढम्।।६।।

वेषवार से सुसंस्कृत खाया हुआ अन्न मल होकर संसार में जुगुप्सा उत्पन्न करता है और पीया हुआ गाय का दूध भी अत्यन्त घृणित मूत्र बन जाता है।

केवलमलमयपुद्गलनिचये, अशुचीकृतशुचिभोजनसिचये।
वपुषि विचिन्तय परमिह सारं, शिवसाधनसामर्थ्यमुदारम्।।७।।

१. 'घनसारः सिताभ्रश्च चन्द्रः'–(अभि. ३/३०७)। २. गन्धवह इति पवनः।

जो शरीर केवल मलमय पुद्गलों का समूह है, जो पवित्र भोजन और कपड़ों को अपवित्र बना देता है, उस शरीर में एक परम सारतत्त्व है—मोक्ष-साधन का प्रचुर सामर्थ्य। उसका तू चिन्तन कर।

येन विराजितमिदमतिपुण्यं, तच्चिन्तय चेतननैपुण्यम्।
विशदागममधिगम्य निपानं, विरचय शान्तसुधारसपानम्।।८।।

जिसके अस्तित्व के कारण यह शरीर अति पवित्र है, उस चेतन की निपुणता का तू चिन्तन कर और पवित्र आगमरूपी निपान—जलाशय को अधिगत कर शान्तसुधारस का पान कर।

७. संकेतिका

'किसने कहा मन चंचल है'—इसका उत्तर उन मनीषियों ने दिया, जिन्होंने मन से भी आगे देखा है। मनुष्य चंचलता के चौराहे पर खड़ा है। भीतर से एक स्रोत आ रहा है, जो शरीर, मन, इन्द्रिय और वचन सबको प्रभावित कर रहा है। मन के अचंचल होने पर भी इसी को ही दोषी बताया जा रहा है। मनुष्य हमेशा स्थूल को ही पकड़ता है, सूक्ष्म तक नहीं पहुंच पाता। जहां चंचलता है वहां दुःख है। मनुष्य दुःख को भोगता है, अनुभव करता है, पर वह मानता ही नहीं कि दुःख भी कोई तत्त्व है। चंचलता के साम्राज्य में दुःख भी छिप जाता है, ज्ञान भी छिप जाता है और शक्ति का बोध भी छिप जाता है। उसे अपने अस्तित्व का भी पता नहीं चलता। कभी-कभी चंचलता की तरंगें और ऊर्मियां इतनी उठती हैं कि त्रैकालिक सत्य भी तिरोहित हो जाता है।

सत्यद्रष्टाओं ने चंचलता के स्रोत को खोजा। उसे जैनदर्शन में आस्रव कहा गया। हजारों वर्ष पूर्व कर्मशास्त्र ने प्रतिपादन किया था कि मनुष्य जो कुछ करता है उसके पीछे कर्म की प्रेरणा होती है। हमारे स्थूल शरीर में एक अतिसूक्ष्म कर्मशरीर है, जो समस्त तंत्र को संचालित कर रहा है। वही आत्मा और पुद्गल के साथ सम्बन्ध बना रहा है। उसे चिन्ता है कि उसका अपना अस्तित्व सुरक्षित रहे। उसे इष्ट ही नहीं है कि यह आत्मा उससे मुक्त हो जाए। जो उसके चंगुल में फंस जाता है वह उसे अपने अधीन रखना चाहता है। शरीर चेतन को अपनी अधीनता में रखना चाहता है। जो तत्त्व कर्म की परिधि में आ गए, पुद्गल की सीमा में आ गये और वह उसे छोड़ दे, कभी कल्पना भी नहीं की जा सकती। कर्मशरीर ने उन सबको अपने भीतर बनाए रखने की चंचलता का जाल बिछाया है। जो कर्म संचित हैं, जो कर्म अस्तित्व में हैं, सत्ता में हैं और जब वे उदय में आते हैं, जब उनका विपाक होता है तब विविध घटनाएं घटित होती हैं। सारा का सारा व्यक्तित्व उस कर्म-विपाक से प्रभावित हो जाता है। हमारे सभी आचरणों का मूल स्रोत है—यह कर्मशरीर। यही सारी

मानसिक चंचलता उत्पन्न कर रहा है, फिर मन का दोष कहां? प्रतिपल असंख्य-असंख्य कर्मपरमाणु राग-द्वेष की मलिन धारा से आकर्षित हो रहे हैं। कर्मपरमाणु काययोग से आकृष्ट होकर जीवप्रदेशों के साथ अपना संबंध स्थापित कर रहे हैं। ये दोनों प्रकार की आस्रव-क्रियाएं निरन्तर अपना कार्य कर रही हैं। मुख्यरूप से आस्रव के पांच भेद हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। ये पांचों ही द्वार कर्म-प्रविष्टि का हेतु बनते हैं। कभी मनुष्य विपरीत चिन्तन के कारण सम्यक् नहीं सोचता, कभी उसकी पदार्थ के प्रति अत्यधिक आकांक्षा होती है, वह उससे विलग नहीं होना चाहता। कभी धर्म के प्रति अनुत्साह, कभी कषायों का उत्ताप तो कभी मानसिक, वाचिक और कायिक चंचलता होती है।

प्रत्येक जीव अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख और शक्ति का स्रोत है, किन्तु आवरण के कारण वह अनन्त चतुष्टयी प्रकट नहीं हो पाती। जीव में जो आवरण है, वह स्वाभाविक नहीं, आस्रव-जनित है। भगवान् महावीर ने कहा—

'उड्ढं सोता अहे सोता, तिरियं सोता वियाहिया।
एते सोया वियक्खाया, जेहिं संगंति पासहा।।'

(आयारो, ५/११८)

—'ऊपर स्रोत हैं, नीचे स्रोत हैं, मध्य में स्रोत हैं। ये स्रोत कहे गए हैं। इनके द्वारा मनुष्य आसक्त होता है। इसे तुम देखो।'

इस प्रकार आस्रव की अनुप्रेक्षा करने वाला मनुष्य सुख-दुःख-जनित हेतुओं को जान लेता है। उसे जान लेने पर पुरुषार्थ का दीपक प्रज्वलित होता है और उससे आलोकित होता है साधना का मार्ग, जिसका फलित है—

- **मुमुक्षाभाव।**
- **अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति का अनावरण।**
- **सुषुप्त शक्तियों का जागरण।**

आस्रव भावना

१. [1]यथा सर्वतो निर्झरैरापतद्भिः, प्रपूर्येत सद्यः पयोभिस्तटाकः।
तथैवाश्रवैः कर्मभिः संभृतोऽङ्गी, भवेद् व्याकुलश्चञ्चलः पंकिलश्च।।

जिस प्रकार तालाब चारों ओर से गिरते हुए निर्झर के पानी से शीघ्र परिपूरित हो जाता है, उसी प्रकार व्यक्ति आस्रवरूपी नाले से आने वाले कर्मों से संपूरित होकर व्याकुल, चंचल और पंकिल बन जाता है।

२. [2]यावत्किञ्चिदिवानुभूय तरसा कर्मेह निर्जीर्यते,
तावच्चाश्रवशत्रवोऽनुसमयं, सिञ्चन्ति भूयोऽपि तत्।
हा! कष्टं कथमाश्रवप्रतिभटाः शक्या निरोद्धुं मया?
संसारादतिदारुणान्मम हहा! मुक्तिः कथं भाविनी?

जब मैं कर्मफल का किंचित्-सा अनुभव कर अपनी शक्ति से कर्म की निर्जरा करता हूं तब सहसा आस्रवरूपी शत्रु बार-बार प्रतिक्षण कर्म-पुद्गलों का सिंचन कर देते हैं। अत्यधिक खेद है कि मैं उन आस्रवरूपी शत्रु-सैनिकों को कैसे रोक सकता हूं? आश्चर्य है, फिर इस दारुण संसार से मेरी मुक्ति किस प्रकार होगी?

३. [3]मिथ्यात्वाऽविरतिकषाय-योगसंज्ञा-
श्चत्वारः सुकृतिभिराश्रवाः प्रदिष्टाः।
कर्माणि प्रतिसमयं स्फुटैरमीभि-
र्बध्नन्तो भ्रमवशतो भ्रमन्ति जीवाः।।

तत्त्ववेत्ताओं ने मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—इन चार आस्रवों का प्ररूपण किया है। इन मुक्त आस्रवों से जीव अज्ञानवश प्रतिक्षण कर्मों का बंधन करते हुए भव-भ्रमण कर रहे हैं।

---

१. भुजंगप्रयात। २. शार्दूलविक्रीडित। ३. प्रहर्षिणी।

४. [1]इन्द्रियाऽव्रतकषाययोगजाः, पञ्चपञ्चचतुरन्वितास्त्रयः।
पञ्चविंशतिरसत्क्रिया इति, नेत्रवेदपरिसंख्ययाप्यमी।।

इन्द्रिय, अव्रत, कषाय और योग से उत्पन्न आस्रव क्रमशः पांच, पांच, चार और तीन तथा पच्चीस असत्क्रियाएं—इन सबको मिलाने पर आस्रव के बयालीस भेद होते हैं।

५. [2]इत्याश्रवाणामधिगम्य तत्त्वं, निश्चित्य सत्त्वं श्रुतिसन्निधानात्।
एषां निरोधे विगलद्विरोधे, सर्वात्मना द्राग्यतितव्यमात्मन्!।।

हे आत्मन्! तू श्रुत-साहचर्य से आस्रवों के तत्त्व को जानकर और अपने सत्त्व का निश्चय कर, विरोधभाव से मुक्त होकर इनका निरोध करने में सर्वात्मना शीघ्रता से प्रयत्न कर।

गीतिका ७ : धनाश्रीरागेण गीयते—

परिहरणीया रे! सुकृतिभिराश्रवा, हृदि समतामवधाय।
प्रभवन्त्येते रे! भृशमुच्छृङ्खला, विभुगुणविभववधाय[3]।।१।।

पुण्यात्मा मनुष्यों को चाहिए कि वे अपने अन्तःकरण में समता धारकर आस्रवों का परिहार करें, अन्यथा ये अत्यधिक उच्छृंखल आस्रव आत्मा के गुण-वैभव का विनाश करने में समर्थ हो जाते हैं।

कुगुरुनियुक्ता रे! कुमतिपरिप्लुताः, शिवपुरपथमपहाय।
प्रयतन्तेऽमी रे! क्रियया दुष्टया, प्रत्युत शिवविरहाय।।२।।

जो लोग कुगुरु द्वारा नियोजित और कुमति से अभिभूत हैं, वे न केवल मोक्ष-मार्ग को छोड़ते हैं प्रत्युत अपनी दुष्टक्रिया के द्वारा मोक्ष से विमुख होने का प्रयत्न करते हैं।

अविरतचित्ता रे! विषयवशीकृता, विषहन्ते विततानि।
इह परलोके रे! कर्मविपाकजान्यविरलदुःखशतानि।।३।।

जिनका चित्त हिंसा आदि से अविरत है और जो इन्द्रिय-विषयों के

---

१. रथोद्धता। २. इन्द्रवज्रा। ३. अत्र क्रियाभिप्रेयः कारकं दानपात्रम्। अतः चतुर्थी विभक्तिः।

अधीन हैं वे लोग इहलोक और परलोक में कर्मविपाक से होने वाले, चारों ओर फैले हुए निरन्तर सैकड़ों दुःखों को सहन करते हैं।

करिझषमधुपा रे! शलभमृगादयो, विषयविनोदरसेन।
हन्त! लभन्ते रे! विविधा वेदना, बत! परिणतिविरसेन।।४।।

अत्यन्त खेद है कि प्राणी परिणाम में विरस विषय-क्रीड़ाओं के रस में लुब्ध होकर विविध वेदनाओं को पाते हैं, जैसे–हाथी स्पर्शनेन्द्रिय के कारण, मत्स्य जिह्वा के कारण, भ्रमर घ्राणेन्द्रिय के कारण, पतंग चक्षुरिन्द्रिय के कारण और हरिण आदि श्रोत्रेन्द्रिय के कारण।

उदितकषाया रे! विषयवशीकृता, यान्ति महानरकेषु।
परिवर्तन्ते रे! नियतमनन्तशो, जन्मजरामरकेषु[१]।।५।।

प्रज्वलित कषाय वाले और विषयों से परवश व्यक्ति महानरकों में जाते हैं और निश्चितरूप से वे अनन्त बार जन्म, जरा और मृत्यु की परिक्रमा करते रहते हैं।

मनसा वाचा रे! वपुषा चञ्चला, दुर्जयदुरितभरेण।
उपलिप्यन्ते रे! तत आश्रवजये, यततां कृतमपरेण।।६।।

मन, वचन और शरीर से चंचल बने हुए व्यक्ति दुर्जेय पापसमूह से उपलिप्त होते हैं, अतः तू आस्रव-विजय का प्रयत्न कर। अन्य प्रयत्न से तुझे क्या?

शुद्धा योगा रे! यदपि यतात्मनां, स्रवन्ते शुभकर्माणि।
काञ्चननिगडांस्तान्यपि जानीयाद्, हतनिर्वृतिशर्माणि।।७।।

संयमीपुरुषों के मन-वचन-काया के शुद्ध योग शुभ कर्मों का आस्रवण (आकर्षण) करते हैं। तू उन्हें भी मोक्षसुखों का उपघात करने वाली स्वर्ण की बेड़ियां जान।

मोदस्वैवं रे! साश्रवपाप्मनां, रोधे धियमाधाय।
शान्तसुधारसपानमनारतं, विनय! विधाय विधाय।।८।।

हे विनय! इस प्रकार तू आस्रवयुक्त पापों के निरोध में अपनी मति लगा और निरन्तर शान्तसुधारस का पान करके प्रसन्नता का अनुभव कर।

---

१. मरकः–मृत्यु। 'मरको मारि....' (अभि. २/२३९)।

८. संकेतिका

आरोहण और अवरोहण के लिए कभी दो सोपानमार्ग नहीं होते। आने-जाने के लिए कभी दो द्वार नहीं होते। जिन सीढ़ियों से ऊपर चढ़ा जा सकता है उन्हीं सीढ़ियों से नीचे उतरा जा सकता है। जिस द्वार से भीतर आया जा सकता है उसी द्वार से बाहर जाया जा सकता है। ऊपर अच्छा भी चढ़ सकता है और बुरा भी चढ़ सकता है। भीतर अच्छा भी आ सकता है और बुरा भी आ सकता है। समस्या द्वार और सीढ़ियों की नहीं, समस्या है भीतर आने की और सीढ़ियों पर चढ़ने की। जब तक मकान रहेगा तब तक द्वार भी रहेगा और सीढ़ियां भी रहेंगी। उन्हें मिटाया नहीं जा सकता। जब तक जीवन है तब तक यह आस्रव भी है। उसके अस्तित्व को मिटाया नहीं जा सकता। आस्रव एक समस्या है, अपाय है। प्रतिक्षण शुभ-अशुभ कर्मपुद्गल इस आस्रव-द्वार में प्रवेश कर रहे हैं और भीतर जाकर चेतना पर अपना प्रभुत्व जमा रहे हैं। अपने आप में यह एक बहुत बड़ी समस्या है। चेतना के न चाहने पर भी वैसा सब कुछ घटित हो रहा है।

अध्यात्म के क्षेत्र में इस समस्या के निवारण के लिए खोज प्रारम्भ हुई। अध्यात्म के मनीषियों ने संवर का मार्ग प्रस्तुत किया। संवर एक मार्ग है समस्या के समाधान का और एक उपाय है अपाय को मिटाने का। जो आस्रव सतत प्रवहमान है उसको रोकना ही संवर है। जो कूड़ा-करकट जिस द्वार से भीतर आ रहा है उस द्वार को बन्द कर देना ही संवर है। भगवान् महावीर ने कहा—**'जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा'** (आयारो, ४/१२)—'जो आस्रव हैं, वे परिस्रव हैं। जो परिस्रव हैं वे आस्रव हैं'। जिनके द्वारा कर्म आते हैं, बन्धन आते हैं, उन्हीं के द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है। जिनमें से मुक्ति आती है, उन्हीं में से बन्धन आता है। बन्धन और मुक्ति के द्वार दो नहीं हैं।

जब तक यह आयात होता रहेगा, बाहर से भीतर तक रसद पहुंचती

रहेगी तब तक समस्या नहीं मिटेगी। भगवान् महावीर ने साधना की दो पद्धतियां निरूपित की—संवर की साधना और निर्जरा की साधना। चित्तातीत का निर्माण संवर की साधना है। जब तक संवर की साधना नहीं होती तब तक निर्जरा की साधना नहीं हो सकती। भगवान् ने चित्तातीत साधना को प्रधानता दी। उन्होंने कहा—संवर करो, संवर करो। हमारे स्थूल शरीर में एक सूक्ष्म शरीर है। बाहर के तत्त्व भीतर आकर प्रतिपल उसे पुष्ट कर रहे हैं, उसकी शक्ति को बढ़ा रहे हैं। जब वह पुष्ट होता है तो सारी चंचलता पैदा होती है, इसलिए अस्तित्व तक पहुंचने के लिए सबसे पहले आवश्यक है प्रवृत्ति का निरोध, काया का संवर। काया का संवर होने पर मन का संवर अपने आप हो जाता है। दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं। मन और वाणी भी काया के द्वारा ही प्रेरित है। काया का संवर होने पर वाणी और मन का संवर अपने आप सध जाता है। भगवान् से पूछा गया—संवर क्या है? भगवान् ने कहा—**'आया संवरे, आया संयमे, आया पच्चक्खाणे'** (भगवई १/४२६)—आत्मदर्शन ही संवर है, आत्मदर्शन ही संयम है और आत्मदर्शन ही प्रत्याख्यान है।

इस संवर की अनुप्रेक्षा से मन, शरीर और वाणी की गुप्ति सध जाती है। उससे फलित होता है—

- **आध्यात्मिक पराक्रम का जागरण।**
- **चंचलता का निरोध।**

संवर भावना

१. [१]**येन येन य इहाश्रवरोधः, सम्भवेन्नियतमौपयिकेन।**
आद्रियस्व विनयोद्यतचेतास्तत्तदान्तरदृशा परिभाव्य।।

हे विनय! जिस-जिस उपाय से आस्रव का निरोध होना निश्चित संभव है उस उपाय को तू अन्तर्दृष्टि से जान, अपने चित्त को उसके लिए उद्यत बनाकर उसे स्वीकार कर।

२. [२]**संयमेन विषयाऽविरतत्वे, दर्शनेन वितथाऽभिनिवेशम्।**
ध्यानमार्त्तमथ रौद्रमजस्रं, चेतसः स्थिरतया च निरुन्ध्याः।।

तू इन्द्रिय-विषय और अविरति का निग्रह संयम के द्वारा, मिथ्या-अभिनिवेश का निरोध सम्यक्त्व के द्वारा और आर्त्त-रौद्र ध्यान का निवारण चित्त की निरन्तर स्थिरता से कर।

३. [३]**क्रोधं क्षान्त्या मार्दवेनाभिमानं, हन्या मायामार्जवेनोज्ज्वलेन।**
लोभं वारांराशिरौद्रं निरुन्ध्याः, सन्तोषेण प्रांशुना सेतुनेव।।

तू क्रोध को क्षमा से, अभिमान को मृदुता से, माया को निर्मल ऋजुता से जीत और समुद्र की भांति भयंकर लोभ का समुन्नत सेतु की तरह सन्तोष के द्वारा निरोध कर।

४. [४]**गुप्तिभिस्तिसृभिरेवमजय्यान्[५], त्रीन् विजित्य तरसाऽधमयोगान्।**
साधु संवरपथे प्रयतेथा, लप्स्यसे हितमनीहितमिद्धम्[६]।।

१-२. स्वागता। ३. शालिनी। ४. स्वागता। ५. न जेतुं शक्यः—अजय्यः—यहां जि धातु को य प्रत्यय होने पर 'क्षय्यजय्यौ शक्तौ' (भिक्षु. ५/१/३४) इस सूत्र से अन्त में अय् आदेश होने पर 'जय्य' निपातन होता है। 'जय्यो यः शक्यते जेतुं जेयो जेतव्यमात्रके' (अभि. ३/४५७)। ६. पा.—हितमनाहतसिद्धम्।

जिन्हें जीतना अशक्य है उन अशुभ योगों को तू तीन गुप्तियों के द्वारा शीघ्रता से जीतकर संवरमार्ग पर चलने का सम्यक् प्रयत्न कर। उससे तू अनभिलषित (अकल्पित) और प्रदीप्त हित (मोक्ष) को प्राप्त होगा।

५. [1]**एवं रुद्धेष्वमलहृदयैराश्रवेष्वाप्तवाक्य-**
श्रद्धाचञ्चत्सितपटपटुः सुप्रतिष्ठानशाली।
शुद्धैर्योगैर्जवनपवनैः प्रेरितो जीवपोतः,
स्रोतस्तीर्त्वा भवजलनिधेर्याति निर्वाणपुर्य्याम्।।

इस प्रकार निर्मलचित्त से आस्रवों का निरोध करने पर यह जीवरूपी पोत, जो आप्तवचनों की श्रद्धा से मंडित श्वेत पताका से सुन्दर और शुभभावरूपी आधार-स्तम्भ से समन्वित है, शुद्धयोगरूपी वेगवान् पवन से प्रेरित होकर भव-समुद्र के स्रोत को पारकर शिवपुरी पहुंच जाता है।

गीतिका ८ : नटरागेण गीयते–

शृणु शिवसुखसाधनसदुपायं, सदुपायं रे! सदुपायम्।
ज्ञानादिकपावनरत्नत्रय-परमाराधनमनपायम्।।१।।

तू मोक्षसुखप्राप्ति के सदुपाय को सुन। वह सदुपाय है–ज्ञानदर्शनचारित्र-रूपी पावन रत्नत्रयी की निर्बाध और उत्कृष्ट आराधना।

विषयविकारमपाकुरु दूरं, क्रोधं मानं सहमायम्।
लोभरिपुं च विजित्य सहेलं, भज संयमगुणमकषायम्।।२।।

तू विषयविकारों को दूर कर, क्रोध, मान, माया और लोभरूपी शत्रुओं को सहजभाव से जीतकर कषायमुक्त संयमगुण का आसेवन कर।

उपशमरसमनुशीलय मनसा रोषदहनजलदप्रायम्।
कलय विरागं धृतपरभागं[2], हृदि विनयं नायं नायम्।।३।।

क्रोधरूपी अग्नि को उपशान्त करने के लिए मेघतुल्य उपशमरस का तू मानसिक अनुशीलन कर और अपने अन्तःकरण में विनय को प्रचुरमात्रा में उपलब्ध कर गुणोत्कर्षयुक्त वैराग्य को धारण कर।

---

१. मन्दाक्रान्ता। २. 'परभागो गुणोत्कर्षो' (अभि. ६/११)।

आर्त्तं रौद्रं ध्यानं मार्जय, दह विकल्परचनाऽऽनायम्।
यदियमरुद्धा मानसवीथी, तत्त्वविदः पन्था नाऽयम्।।४।।

तू आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का परिमार्जन कर, विकल्प के रचनाजाल को जला डाल। मानसिक विचारों की जो यह अनिरुद्ध श्रेणी है वह तत्त्वज्ञ-व्यक्तियों का मार्ग नहीं है।

संयमयोगैरवहितमानसशुद्ध्या चरितार्थय कायम्।
नानामतरुचिगहने भुवने, निश्चिनु शुद्धपथं नायम्[1]।।५।।

तू संयमयोग तथा समाधियुक्त मानसिक शुद्धि से इस शरीर को चरितार्थ कर और पृथक्-पृथक् मतों की रुचि से जटिल बने हुए इस संसार में शुद्ध मार्ग वाली नीति का निश्चय कर।

ब्रह्मव्रतमङ्गीकुरु विमलं, बिभ्राणं[2] गुणसमवायम्।
उदितं[3] गुरुवदनादुपदेशं, संगृहाण शुचिमिव रायम्।।६।।

गुणसमूह को धारण करने वाले विमल ब्रह्मचर्यव्रत को तू स्वीकार कर तथा गुरुमुख से निःसृत उपदेश का तू पवित्र सुवर्ण की तरह संग्रह कर।

संयमवाङ्मयकुसुमरसैरति सुरभय निजमध्यवसायम्।
चेतनमुपलक्षय कृतलक्षणज्ञानचरणगुणपर्यायम्।।७।।

संयम और जिनवाणीरूपी पुष्परस से तू अपने अध्यवसाय को अत्यन्त सौरभमय बना तथा ज्ञान-चारित्र-गुण-पर्याय लक्षण वाले अपने चेतन को तू जान।

वदनमलङ्कुरु पावनरसनं, जिनचरितं गायं गायम्।
सविनयशान्तसुधारसमेनं, चिरं नन्द पायं पायम्।।८।।

जिह्वा को पावन बनाने वाले वीतराग भगवान के चारित्र को गा-गाकर तू अपने मुख को अलंकृत कर और विनययुक्त इस शान्तसुधारस को पी-पीकर चिरकाल तक आनन्द का अनुभव कर।

---

१. यहां पर 'नायं' विशेष्य तथा शुद्धपथं विशेषण है, जिसका अर्थ है शुद्धमार्ग वाली नीति। 'नायम्' 'दुनीभुवं' (भिक्षु. ५/१/७४) सूत्र से नी धातु से कर्ता में ण प्रत्यय हुआ है। 'शुद्धपथं'–यहां 'ऋक्पुरप्पथिभ्यः समासे' (भिक्षु. ८/३/५६) इस सूत्र से समासान्त अ प्रत्यय हुआ है। २. यहां 'डुभृंन्क् पोषणे च' धातु से शान् प्रत्यय हुआ है। ३. यहां उद् उपसर्ग सहित 'इंण्क् गतौ' धातु से क्त प्रत्यय हुआ है।

९. संकेतिका

मनुष्य अस्वस्थ है, यह किसी से पूछने की आवश्यकता नहीं, वह स्वयं ही इसका साक्षी है। उसके लक्षण ही उसकी रुग्णता को प्रकट कर रहे हैं। उसके चेहरे पर मानसिक आवेग उभर रहे हैं, इसलिए वह बीमार है। उसके सभी कार्यकलापों और व्यवहारों में वैषम्य झलक रहा है, अन्तःकरण में राग-द्वेष की मलिन धारा बह रही है। मन, वचन और काया में वक्रता है, प्रवंचना है, फिर उसे स्वस्थ कैसे कहा जा सकता है? मनुष्य केवल शरीर और मन से ही रुग्ण नहीं होता, चेतना के स्तर पर भी रुग्ण होता है। यह चेतना न जाने कब से कितने-कितने कर्म-संस्कारों से आवृत है। प्रतिपल शुभ-अशुभ पुद्गल उस चेतना को अपनी मलिनता से आच्छन्न कर रहे हैं। वे कर्म-संस्कार और विजातीय तत्त्व जब बाहर प्रकट होते हैं तब मन और शरीर भी उनसे प्रभावित होता है। मनुष्य बाह्य उपचार के द्वारा उन रोगों का उपशमन कर देना चाहता है, किन्तु रोग के मूल तक नहीं पहुंच पाता। जब तक मूल का सिंचन होता रहेगा तब-तब वे अपना प्रभाव दिखाते रहेंगे।

अध्यात्म-चिकित्सकों ने उसे मिटाने के लिए निर्जरा के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। अध्यात्मक्षेत्र में निर्जरा की प्रक्रिया कर्ममल विशोधन की प्रक्रिया है। यह विजातीय तत्त्वों को बाहर निकालने की प्रणाली है। जब तक ये मलिन पदार्थ आत्मा पर चिपके रहते हैं तब तक आत्मा अपने मूलस्वरूप में प्रभास्वर नहीं हो सकती। सुवर्ण तब तक अपनी आभा को प्रकट नहीं कर सकता जब तक उसकी प्रभा को आच्छादित करने वाले विजातीय तत्त्व उससे पृथक् नहीं हो जाते। सम्बन्ध बनाना एक बात है और सम्बन्धों को तोड़ना दूसरी बात है। निर्जरा सम्बन्धों को तोड़ने की विधि है। निर्जरा राग-द्वेषजनित कर्ममल के प्रक्षालन की प्रक्रिया है। भगवान् महावीर ने निर्जरा के बारह प्रकारों का विधान किया। ये बारह भेद बारह प्रकार की तपस्याओं के कारण विवक्षित हैं। वस्तुतः स्वतन्त्ररूप में निर्जरा एक ही प्रकार की है। अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिसंक्षेप,

रसपरिहार, प्रतिसंलीनता और कायक्लेश–ये तप के बाह्य अंग हैं। इनको बाह्य इसलिए कहा गया कि ये साधना के लिए पृष्ठभूमि तैयार करते हैं, शरीर को सर्दी-गर्मी आदि कष्टों को सहने के योग्य बनाते हैं। शेष छह भेद–प्रायश्चित्त, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, विनय, कायोत्सर्ग और शुभ ध्यान–ये तप के आभ्यन्तर अंग हैं। ये छह भावशुद्धि के साधक तथा चंचलता को मिटाने का कारण बनते हैं, इसलिए इन्हें आन्तरिक तप कहा गया।

इन दोनों ही प्रकारों से शरीर के बाह्य और आन्तरिक मल विसर्जित होते हैं। उनसे प्रक्षालित और विशोधित होकर चेतना उसी प्रकार निर्मल बन जाती है जिस प्रकार अग्नि में तपा हुआ सोना।

तप की महिमा का अनुचिन्तन करता हुआ मनुष्य बार-बार इस सूत्र का आलम्बन ले–**'नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा'** (दसवेआलियं, ९/४/सू. ५) –निर्जरा से अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य से तप न करे।

निष्कामभाव से किए हुए तप का प्रभाव होता है–

- **विशोधीकरण।**
- **चेतना का मूलरूप में प्रकटीकरण।**
- **आधि, व्याधि और उपाधि से हटकर समाधि में अवस्थिति।**

निर्जरा भावना

१. [1]यन्निर्जरा द्वादशधा निरुक्ता, तद् द्वादशानां तपसां विभेदात्।
हेतुप्रभेदादिह कार्यभेदः, स्वातन्त्र्यतस्त्वेकविधैव सा स्यात्।।

निर्जरा के बारह प्रकार बतलाए गए हैं। वे बारह प्रकार की तपस्याओं के कारण से बनते हैं। यह कारणभेद (तप) से कार्यभेद (निर्जरा) की विवक्षा है, किन्तु स्वतन्त्ररूप से वह निर्जरा एक ही प्रकार की होती है।

२. [2]काष्ठोपलादिरूपाणां निदानानां विभेदतः।
वह्निर्यथैकरूपोऽपि, पृथग्रूपो विवक्ष्यते।।

अग्नि अपने स्वरूप में एक ही प्रकार की होती है, किन्तु उसे कारणभेद से भिन्न-भिन्न रूपों में विवक्षित किया जाता है। जैसे—काष्ठ से प्रज्वलित होने वाली अग्नि को काष्ठ की अग्नि, उपलों (चकमक नामक पत्थर) से प्रज्वलित होने वाली अग्नि को उपल की अग्नि, घास से प्रज्वलित होने वाली अग्नि को घास की अग्नि तथा छानों से प्रज्वलित होने वाली अग्नि को गोबर की अग्नि कहा जाता है।

३. [3]निर्जराऽपि द्वादशधा, तपोभेदैस्तथोदिता।
कर्मनिर्जरणात्मा तु, सैकरूपैव वस्तुतः।।

उसी प्रकार तप के बारह भेद होने के कारण निर्जरा के भी बारह प्रकार बतलाए गए हैं। वास्तव में कर्म-निर्जरण स्वरूपवाली निर्जरा एकरूप वाली ही है।

---

१. इन्द्रवज्रा। २-३. अनुष्टुप्।

४. [1]निकाचितानामपि कर्मणां यद्, गरीयसां भूधरदुर्द्धराणाम्।
विभेदने वज्रमिवातितीव्रं, नमोस्तु तस्मै तपसेऽद्भुताय।।

उस अद्भुत तप को नमस्कार, जो गुरुतर तथा पर्वतों की भांति दुर्धर निकाचित[2] कर्मों को भी अतितीव्रता से वज्र की भांति तोड़ देता है।

५. [3]किमुच्यते सत्तपसः प्रभावः, कठोरकर्मार्जितकिल्विषोऽपि।
दृढप्रहारीव निहत्य पापं, यतोऽपवर्गं लभतेऽचिरेण।।

श्रेष्ठ तप के प्रभाव के विषय में क्या कहा जाए! जिसके प्रभाव से कठोर कर्मों को अर्जित करने वाला पापी भी दृढ़प्रहारी की भांति पापों को क्षीणकर शीघ्र मोक्ष पा लेता है।

६. [4]यथा सुवर्णस्य शुचि स्वरूपं, दीप्तः कृशानुः प्रकटीकरोति।
तथात्मनः कर्मरजो निहत्य, ज्योतिस्तपस्तद् विशदीकरोति।।

जैसे प्रज्वलित अग्नि सोने के निर्मल स्वरूप को प्रकट करती है वैसे ही तप आत्मा के कर्मरज को दूर कर उसकी ज्योति को निर्मल बना देता है।

७. [5]बाह्येनाभ्यन्तरेण प्रथितबहुभिदा जीयते येन शत्रु-
श्रेणी बाह्यान्तरङ्गा भरतनृपतिवद्[6] भावलब्धद्रढिम्ना।
यस्मात् प्रादुर्भवेयुः प्रकटितविभवा लब्धयः सिद्धयश्च,
वन्दे स्वर्गाऽपवर्गाऽर्पणपटु सततं तत्तपो विश्ववन्द्यम्।।

जो बाह्य और अन्तरंगरूप में अनेक भेद (बारह भेद) वाला है, जिससे भरत चक्रवर्ती की भांति भावना से प्राप्त दृढ़ता के कारण बाह्य और अन्तरंग शत्रुश्रेणी जीती जाती है, जिससे प्रकटित वैभवशाली लब्धियां और सिद्धियां[7] प्रादुर्भूत होती हैं, उस स्वर्ग-मोक्ष दान में पटु, विश्ववन्द्य तप को मैं सतत वन्दना करता हूं।

---

१. उपेन्द्रवज्रा। २. कर्मशास्त्रीय परम्परा के अनुसार यहां दो अभिमत हैं–एक अभिमत है कि निकाचित कर्मों का भेदन नहीं किया जा सकता तथा दूसरा अभिमत है कि निकाचित कर्मों का भी भेदन किया जा सकता है। ३-४. उपजाति। ५. स्रग्धरा। ६. देखें–परिशिष्ट (२) में 'सांकेतिक कथाएं'। ७. सिद्धियां आठ प्रकार की हैं–लघिमा, वशिता, ईशित्व, प्राकाम्य, महिमा, अणिमा, यत्रकामावसायित्व, प्राप्ति (अभि. २/११६)। लब्धियों के अट्ठाईस प्रकार के लिए देखें–औपपातिक २/२४।

गीतिका ९ : सारंगरागेण गीयते–

विभावय विनय! तपोमहिमानं,
बहुभवसञ्चितदुष्कृतममुना, लभते लघु लघिमानम्।।१।।

हे विनय! तू तप की महिमा का अनुचिन्तन कर। उससे अनेक जन्मों में संचित पाप शीघ्र कृश हो जाते हैं।

याति घनाऽपि घनाघनपटली, खरपवनेन विरामम्।
भजति तथा तपसा दुरितावली, क्षणभङ्गुरपरिणामम्।।२।।

जिस प्रकार प्रचंड वायु के द्वारा सघन बादलों की श्रेणियां भी छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, उसी प्रकार तप के द्वारा पापश्रेणी क्षणभर में विलीन हो जाती है।

वाञ्छितमाकर्षति दूरादपि, रिपुमपि सृजति[१] वयस्यम्।
तप इदमाश्रय निर्मलभावादागमपरमरहस्यम्।।३।।

यह तप अभीप्सित पदार्थों को दूर से भी आकर्षित कर लेता है, शत्रु को भी मित्र बना लेता है, यह आगम का परम रहस्य है, इसका तू निर्मलभाव से आसेवन कर।

अनशनमूनोदरतां वृत्तिह्रासं रसपरिहारम्।
भज सांलीन्यं कायक्लेशं, तप इति बाह्यमुदारम्।।४।।

अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसपरिहार, संलीनता और कायक्लेश[२]–ये तप के बाह्य अंग हैं। इस उदार (विशाल) तप का तू आसेवन कर।

प्रायश्चित्तं वैयावृत्त्यं, स्वाध्यायं विनयं च।
कायोत्सर्गं शुद्धं[३] ध्यानमाभ्यन्तरमिदमञ्च।।५।।

प्रायश्चित्त, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, विनय, कायोत्सर्ग और शुभध्यान[४]–ये तप के आभ्यन्तर अंग हैं। इस तप का तू अनुशीलन कर।

शमयति तापं गमयति पापं, रमयति मानसहंसम्।
हरति विमोहं दुरारोहं[५], तप इति विगताशंसम्।।६।।

---

१. व्रजति (?)। २. कायोत्सर्ग आदि आसन। ३. इत्यपि पाठः–शुभ....। ४. धर्मध्यान और शुक्लध्यान। ५. इत्यपि पाठः–दूरारोहम्।

निष्कामभाव से किया हुआ तप ताप का उपशमन करता है, पाप का विलय करता है, मनरूपी हंस को रमण कराता है और विमूढ़ता का हरण करता है, ऐसे तप पर आरोहण करना बड़ा कठिन काम है।

संयमकमलाकार्मण[1]मुज्ज्वलशिवसुखसत्यंकारम्[2]।
चिन्तितचिन्तामणिमाराधय, तप इह वारं वारम्।।७।।

जो संयमरूपी लक्ष्मी के लिए वशीकरणमंत्र है, मोक्ष के विमल सुखों के लिए सांई (अग्रिम राशि) है, मनोरथपूर्ति के लिए जो चिन्तामणि रत्न है, उस तप की तू बार-बार आराधना कर।

कर्मगदौषधमिदमिदमस्य च, जिनपतिमतमनुपानम्।
विनय! समाचर सौख्यनिधानं, शान्तसुधारसपानम्।।८।।

यह तप कर्म-रोग को मिटाने के लिए औषध है और इसका अनुपान है—तीर्थंकर सम्मत शान्तसुधारस का पान। हे विनय! यह सुख का निधान है। तू इसका समाचरण कर।

---

१. कार्मणं—अत्र 'कर्मणोऽण्' (भिक्षु. ७/४/८७) इति सूत्रेण संदिष्टेर्थे कर्मन्शब्दात् स्वार्थे अण् प्रत्ययः। कर्मैव कार्मणम्। वशीकरणमपि वृद्धपरंपरोपदेशात् क्रियते इति कार्मणमुच्यते। 'कार्मणं मूलकर्म'....(अभि. ६/१३३)। मूलैरौषधिभिर्वशीकरणं मूलकर्म। २. 'सत्यंकारः सत्याकृतिः' (अभि. ३/५३६)।

१०. संकेतिका

मनुष्य सदा से ही अंधकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर तथा अयथार्थ से यथार्थ की ओर बढ़ने का प्रयत्न करता रहा है। धर्म जीवन के लिए प्रकाश है, अमरत्व है और यथार्थ है। जिसके जीवन में धर्म नहीं है वह व्यक्ति अंधकार का जीवन जीता है, मृत्यु और कृत्रिमता का जीवन जीता है। धर्म आत्मा का सहज परिणमन है और उसकी सबसे बड़ी निष्पत्ति है—अपने स्वाभाविकरूप की खोज। जहां धर्म का आचरण नहीं होता वहां धर्म-अधर्म की भेदरेखा समाप्त हो जाती है, जीवन का सारा व्यवहार चरमरा जाता है। यदि परमार्थ की बात भी छोड़ दी जाए तब भी मनुष्य के लौकिक सम्बन्धों की पवित्रता धर्म के आधार पर ही आंकी जा सकती है। भगवान् ने कहा—'**धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई**' (उत्तरज्झयणाणि, ३/१२)—धर्म उसी व्यक्ति में स्थिर होता है जिसका अन्तःकरण शुद्ध होता है, सरल होता है। जहां सरलता नहीं है, विशुद्धि नहीं है वहां धर्म का कभी स्थिरीकरण नहीं हो सकता। धर्म की साधना आत्मपरिष्कार की साधना है, आत्मा को निर्मल बनाने की प्रक्रिया है। विशुद्धीकरण और धर्म—दोनों एक हैं। यह कभी हो नहीं सकता कि व्यक्ति धर्म करे और उसका अन्तःकरण परिमार्जित न हो। धर्म जीवन को रूपान्तरित करने की अमोघ औषधि है। जब मन अशान्त होता है तब व्यक्ति धर्म का आलम्बन लेता है। धर्म की सबसे बड़ी उपलब्धि है मानसिक संतुलन और समाधिस्थ जीवन। मनुष्य का व्यवहार एक प्रतिबिम्ब है। यदि जीवन में परिवर्तन आता है तो उसका प्रतिबिम्ब व्यवहार में भी झलकेगा। धर्म का साक्षात् लाभ है—चेतना का जागरण, शक्ति का जागरण और आनन्द की उपलब्धि।

बाह्य जगत् में जीने वाला व्यक्ति उसी को मनोज्ञ और सुखद मानता है, जो तात्कालिक कामनाओं की पूर्ति करता है। वैषयिक सुख आपात-रमणीय होते हैं, किन्तु परिणाम-रमणीय नहीं होते। धर्म एक ऐसा तत्त्व है जो आपात-रमणीय और परिणाम-रमणीय—दोनों है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति उसका आसेवन

करता है त्यों-त्यों उसमें सरसता आती है। भगवान् महावीर ने एक शब्द में उसे समता धर्म से व्याख्यायित किया। उन्होंने उसका विस्तार करते हुए दस धर्मों का प्रतिपादन किया—सत्य, क्षमा, मार्दव, शौच, संग-त्याग, आर्जव, ब्रह्मचर्य, विमुक्ति, इन्द्रिय-संयम और अकिंचनता।

ये दस धर्म जीवन-शुद्धि के दस सोपान हैं। यदि जीवन में क्षमा, आर्जव, मार्दव, सत्य और शौच का विकास होता है तो व्यावहारिक जीवन सुखमय और शान्तिमय होता है। यदि संयम, तप, त्याग और अकिंचनता का विकास होता है तो अपने द्वारा अपना अनुशासन फलित होता है। जिसने इन सोपान-मार्गों का आलम्बन लिया वह निर्मलता की उस मंजिल को प्राप्त हो गया, जहां जाने पर न कोई समस्या रहती है और न कोई मलिनता। धर्म का फलित है—पवित्रता और पवित्रता की फलश्रुति है—

- **समस्याओं से जूझने की शक्ति का विकास।**
- **जीवन का रूपान्तरण।**
- **व्यवहार-कुशलता।**

धर्म भावना

१. [1]दानं च शीलं च तपश्च भावो, धर्मश्चतुर्धा जिनबान्धवेन।
निरूपितो यो जगतां हिताय, स मानसे मे रमतामजस्रम्।।

विश्वबन्धु तीर्थंकर ने जगकल्याण के लिए जिस चतुर्विध धर्म–दान, शील, तप और भावना का निरूपण किया, वह मेरे मानस में सतत रमता रहे।

२. [2]सत्यक्षमामार्दवशौचसंगत्यागार्जवब्रह्मविमुक्तियुक्तः[3] ।
यः संयमोऽकिञ्चनतोपगूढ[4]श्चारित्रधर्मो दशधाऽयमुक्तः।।

भगवान् ने दस प्रकार के चारित्रधर्म का प्रवचन किया है–१. सत्य, २. क्षमा, ३. मार्दव–कोमलता, विनम्रता, ४. शौच–मन की पवित्रता, ५. संगत्याग–व्यक्ति या वस्तु के प्रति अनासक्ति, अमूर्च्छाभाव, ६. आर्जव–सरलता, ७. ब्रह्मचर्य, ८. विमुक्ति–संतोष, निर्लोभता, ९. इन्द्रिय-संयम और १०. अकिंचनता[5]।

३. [6]यस्य प्रभावादिह पुष्पवन्तौ, विश्वोपकाराय सदोदयेते।
ग्रीष्मोष्मभीष्मामुदितस्तडित्वान्, काले समाश्वासयति क्षितिं च।।

जिस धर्म के प्रभाव से सूर्य और चन्द्रमा विश्व के उपकार के लिए सदा यहां (जगत् में) उदित होते हैं और उमड़ता हुआ मेघ ग्रीष्म ऋतु की ऊष्मा से

---

१. उपजाति। २. इन्द्रवज्रा। ३. श्लोकरचना की दृष्टि से युक्तशब्द संयम का विशेषण है। ४. अकिंचनता+उपगूढः=आश्लिष्ट इत्यर्थः, यह भी संयम का विशेषण है। क्वचित् इत्यपि पाठ उपलभ्यते–यः संयमः किञ्च तपोवगूढः। ५. ठाणं सूत्र में धर्म के दस प्रकार इस प्रकार हैं–१. क्षान्ति, २. मुक्ति–निर्लोभता, अनासक्ति, ३. आर्जव, ४. मार्दव, ५. लाघव, ६. सत्य, ७ संयम, ८. तप, ९. त्याग–अपने सांभोगिक साधुओं को भोजन आदि का दान, १०. ब्रह्मचर्य। ६. इन्द्रवज्रा।

भयंकर बनी हुई भूमि को समय पर (वर्षाकाल में) आश्वस्त करता है—शांत करता है।

४. [१]**उल्लोलकल्लोलकलाविलासैर्नाप्लावयत्यम्बुनिधिः क्षितिं यत्।**
न घ्नन्ति यद् व्याघ्रमरुद्ववाद्याः, धर्मस्य सर्वोऽप्यनुभाव एषः।।

उच्छलती हुई विशाल ऊर्मियों के कलाविलास से जो समुद्र पृथ्वी को आप्लावित नहीं करता, बाघ नहीं मारता, बवंडर हानि नहीं पहुंचाता और दावानल आदि नहीं जलाता। यह सब धर्म का ही सामर्थ्य है।

५. [२]**यस्मिन्नेव पिताऽहिताय यतते भ्राता च माता सुतः,**
सैन्यं दैन्यमुपैति चापचपलं यत्राऽफलं दोर्बलम्।
तस्मिन् कष्टदशाविपाकसमये धर्मस्तु संवर्मितः,
सज्जः सज्जन एष सर्वजगतस्त्राणाय बद्धोद्यमः।।

जिस समय पिता, भाई, माता और पुत्र अहित करने का प्रयत्न करते हैं, सेना दीन बन जाती है और धनुष से चपल बना हुआ भुजबल निष्फल हो जाता है, उस कष्ट-अवस्था के विपाककाल में यह धर्मरूपी सज्जन संपूर्ण जगत् के त्राण के लिए कवचित होकर सन्नद्ध और उद्यमशील रहता है।

६. [३]**त्रैलोक्यं सचराचरं विजयते यस्य प्रसादादिदं,**
योऽत्राऽमुत्र हितावहस्तनुभृतां सर्वार्थसिद्धिप्रदः।
येनाऽनर्थकदर्थना निजमहःसामर्थ्यतो व्यर्थिता,
तस्मै कारुणिकाय धर्मविभवे भक्तिप्रणामोऽस्तु मे।।

जिसके प्रसाद से यह जंगमस्थावर तीनों लोक विजयी बनते हैं, जो इहलोक-परलोक में मनुष्यों के लिए हितकर और सब मनोरथों को सिद्ध करने वाला है, जिसने अपने तेज के सामर्थ्य से अनर्थ की दुश्चेष्टा को व्यर्थ बना दिया है उस कारुणिक धर्मप्रभु को मेरा भक्तिभरा प्रणाम हो।

७. [४]**प्राज्यं राज्यं सुभगदयिता नन्दना नन्दनानां,**
रम्यं रूपं सरसकविताचातुरी सुस्वरत्वम्।
नीरोगत्वं गुणपरिचयः सज्जनत्वं सुबुद्धिः,
किन्नु ब्रूमः फलपरिणतिं धर्मकल्पद्रुमस्य?

---

१. इन्द्रवज्रा। २-३. शार्दूलविक्रीडित। ४. मन्दाक्रान्ता।

हम धर्मरूप कल्पवृक्ष की फल-निष्पत्ति का क्या वर्णन करें? विशाल राज्य, सौभाग्यशाली पत्नी, पुत्रों का आनन्द, सुन्दर रूप, सरस कविता बनाने का चातुर्य, मधुरस्वर, आरोग्य, गुणों की समृद्धि, सज्जनता और सुबुद्धि—ये सब उसकी निष्पत्तियां हैं।

गीतिका १० : वसन्तरागेण गीयते—

पालय पालय रे! पालय मां जिनधर्म!
मंगलकमलाकेलिनिकेतन! करुणाकेतन! धीर!
शिवसुखसाधन! भवभयबाधन! जगदाधार! गभीर!।।१।।

हे मंगलमय लक्ष्मी के लिए क्रीड़ागृह! हे करुणा के प्रतीक! हे धीर! हे मोक्षसुख के साधन! हे संसार के भयों का निवारण करने वाले! हे जगत् के आधार और गम्भीर जिनधर्म! तू मेरी रक्षा कर, रक्षा कर, रक्षा कर।

सिञ्चति पयसा जलधरपटली, भूतलममृतमयेन।
[1]सूर्याचन्द्रमसावुदयेते, तव महिमातिशयेन।।२।।

तेरी अतिशय महिमा से मेघ की घटा अमृतमय जल से भूतल को अभिषिक्त करती है और सूर्य तथा चन्द्र उदित होते हैं।

निरालम्बमियमसदाधारा, तिष्ठति वसुधा येन।
तं विश्वस्थितिमूलस्तम्भं, संसेवे विनयेन।।३।।

जिससे यह आधारशून्य पृथ्वी निरालम्ब ठहरी हुई है, जो विश्वस्थिति का आधार-स्तम्भ है, मैं उस धर्म की विनय-पूर्वक सम्यक् आराधना करता हूं।

दानशीलशुभभावतपोमुख-चरितार्थीकृतलोकः।
शरणस्मरणकृतामिह भविनां, दूरीकृतभयशोकः।।४।।

जिसने दान, शील, शुभभावना और तप आदि के द्वारा लोक को कृतार्थ किया है और शरण में आने वाले तथा स्मरण करने वाले भविजनों का भय और शोक दूर किया है, वह धर्म मेरी रक्षा करे।

---

१. 'देवतानामवायूनां वेदसहश्रुतानाम्' (भिक्षु. ३/२/४२) इति सूत्रेण पूर्वपदस्य आकारोन्तादेशः।

क्षमासत्यसन्तोषदयादिक-सुभगसकलपरिवारः ।
देवासुरनरपूजितशासन-कृतबहुभवपरिहारः ।।५।।

जो क्षमा, सत्य, सन्तोष और दया आदि से सुन्दर समग्र परिवार वाला है, जिसका शासन देव, असुर और मनुष्य के द्वारा पूजित है और जो अनेक जन्म-मरण का परिहार करने वाला है, वह धर्म मेरी रक्षा करे।

बन्धुरबन्धुजनस्य दिवानिश-मसहायस्य सहायः।
भ्राम्यति भीमे भवगहनेऽङ्गी, त्वां बान्धवमपहाय।।६।।

हे धर्म! जिसका कोई बन्धु नहीं है उसका तू बन्धु है और तू दिन-रात असहायों की सहायता करता है। तुम जैसे बन्धु को छोड़कर यह प्राणी भयंकर संसार-अरण्य में भ्रमण कर रहा है।

द्रंगति गहनं जलति कृशानुः, स्थलति जलधिरचिरेण।
तव कृपयाऽखिलकामितसिद्धिर्बहुना किन्नु परेण।।७।।

तुम्हारे प्रभाव से जंगल नगर जैसा बन जाता है, अग्नि जल की तरह शीतल हो जाती है और समुद्र तत्काल स्थल हो जाता है। और अधिक क्या कहूं? तुम्हारी कृपा से सब कामनाएं सिद्ध हो जाती हैं।

इह यच्छसि सुखमुदितदशाङ्गं, प्रेत्येन्द्रादिपदानि।
क्रमतो ज्ञानादीनि च वितरसि, निःश्रेयससुखदानि।।८।।

तू इस लोक में प्रकटभूत दस अंग वाला सुख[१] देता है और परलोक में इन्द्र आदि का पद प्राप्त कराता है। तू क्रमशः मोक्ष सुख देने वाले ज्ञान, दर्शन और चारित्र को उपलब्ध कराता है।

सर्वतन्त्रनवनीत! सनातन! सिद्धिसदनसोपान!।
जय जय विनयवतां प्रतिलम्भितशान्तसुधारसपान!।।९।।

हे सर्वशास्त्रों के नवनीत! हे शाश्वत! हे सिद्धिगृह के सोपान! हे विनयशील लोकों को शान्तसुधारस का पान कराने वाले! तुम्हारी जय हो, तुम्हारी जय हो।

---

१. सुख के दस अंग–१. आरोग्य, २. दीर्घ आयुष्य, ३. आढ्यता, ४. काम, ५. भोग, ६. सन्तोष, ७. अस्ति, ८. शुभभोग, ९. निष्क्रमण, १०. अनाबाध–(ठाणं १०/८३)।

११. संकेतिका

जहां प्राणी रह रहे हैं, वह क्या और कैसा है? सहज ही एक जिज्ञासा होती है। समाधान मिलता है, वह लोक है। लोक अलोक के बिना नहीं होता। वह अलोकाकाश से घिरा हुआ है। दूसरे शब्दों में जहां धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव–ये छह द्रव्य होते हैं वह लोक और जहां केवल आकाश ही हो वह अलोक कहलाता है। लोक ससीम है और अलोक असीम। इन दोनों की सीमारेखा क्या है, यह प्रश्न होता है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय–ये दो द्रव्य अखण्ड आकाश को दो भागों में विभाजित करते हैं। यही लोक की प्राकृतिक सीमा है। जिस आकाश-खण्ड में ये दो द्रव्य व्याप्त हैं वह लोक और शेष आकाश अलोक होता है। जीव और पुद्गल की गति और स्थिति लोक तक ही होती है। अलोक में गति-स्थिति का अभाव होता है, क्योंकि वहां गति और स्थिति के माध्यम नहीं हैं।

वह लोकपुरुष सुप्रतिष्ठक आकारवाला है। वह नीचे विस्तृत, मध्य में संकरा और ऊपर मृदंगाकार है। जिस प्रकार तीन सिकोरों में से एक सिकोरा उल्टा, उस पर एक सीधा और उस पर फिर एक उल्टा रखने से जो आकार बनता है, वही आकार सुप्रतिष्ठक संस्थान या त्रिशरावसंपुट जैसा होता है। अलोक का आकार बीच में पोल वाले गोले के समान है और वह एकाकार है। उसका कोई विभाग नहीं होता। लोकाकाश तीन विभागों में विभक्त है–ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक। वह लोक चौदह रज्जु लम्बा है। उसमें ऊंचा लोक सात रज्जु से कुछ कम, नीचा लोक सात रज्जु से अधिक और तिरछा लोक अठारह सौ योजन ऊंचा और असंख्य द्वीप-समुद्र परिमाण विस्तृत है। अधोलोक में सातों नरक तथा भवनपति देवों का, मध्यलोक में व्यन्तर तथा ज्योतिष्क देवों का और ऊर्ध्वलोक में छब्बीस वैमानिक देवों का निवास-स्थान है। चारों गति के जीव इस लोक में समाए हुए हैं।

इस प्रकार यह लोक विविधताओं की रंगभूमि है। इसमें जीव और

पुद्गलरूपी नट नाना रूप बनाकर नृत्य कर रहे हैं। काल, पुरुषार्थ, स्वभाव, कर्म और नियति—ये सब उन्हें नचा रहे हैं। भगवान् महावीर ने कहा—

'आयतचक्खू लोग-विपस्सी लोगस्स अहो भागं जाणइ,
उड्ढं भागं जाणइ, तिरियं भागं जाणइ।'

(आयारो, २/१२५)

—'दीर्घदर्शी पुरुष लोकदर्शी होता है। वह लोक के अधोभाग को जानता है, ऊर्ध्वभाग को जानता है और तिरछे भाग को जानता है।'

जो लोक के तीनों भागों को जानता है वह सभी प्राणियों को जानता है। जो लोक-संस्थान का अनुचिन्तन करता है वह उन सब प्राणियों में एकत्व या समत्व की अनुभूति करता है। उसे सहज उपलब्ध होता है—

- **सबके प्रति समानता का व्यवहार।**
- **विविधता में भी एकता का बोध।**
- **परिणमन में भी स्थिरता का बोध।**

लोक भावना

१. [1]**सप्ताऽधोऽधो विस्तृता याः पृथिव्य-**
श्छत्राकाराः सन्ति रत्नप्रभाद्याः।
ताभिः पूर्णो योऽस्त्यधोलोक एतौ,
पादौ यस्य व्यायतौ सप्तरज्जूः[2]।।

रत्नप्रभा आदि सात[3] पृथ्वियां क्रमशः एक-दूसरे के नीचे फैली हुई हैं। वे छत्र के आकार वाली हैं। अधोलोक उनसे व्याप्त है। यह लोकपुरुष के दोनों पैरों के स्थान में है। इनकी लम्बाई सात रज्जु प्रमाण है।

२. [4]**तिर्यग्लोको विस्तृतो रज्जुमेकां,**
पूर्णो द्वीपैरर्णवान्तैरसंख्यैः।
यस्य ज्योतिश्चक्रकाञ्चीकलापं,
मध्ये कार्श्यं श्रीविचित्रं कटित्रम्।।

तिरछालोक एक रज्जु प्रमाण फैला हुआ है। वह असंख्य द्वीप और समुद्रों से परिपूर्ण है। उसका मध्यभाग कृश है। ज्योतिश्चक्र (सौरमण्डल) लोकपुरुष के कटि-स्थानीय देदीप्यमान कांची, कलाप और कटिसूत्र जैसा लग रहा है।[5]

---

१. शालिनी। २. अत्र 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (भिक्षु. २/४/५६) इति सूत्रेण द्वितीया। एवं पञ्चरज्जूरपि सिद्धः। ३. रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा महातमःप्रभा। ४. शालिनी। ५. इकहरे कटिसूत्र (करधनी) को कांची तथा पच्चीस लड़ वाले कटिसूत्र को कलाप कहा जाता है–

'एकयष्टिर्भवेत् काञ्ची, मेखला त्वष्टयष्टिका।
रसना षोडशी ज्ञेया, कलापः पञ्चविंशकः'।।

३. [1]लोकेऽथोर्ध्वे ब्रह्मलोके द्युलोके,
यस्य व्याप्तौ कूर्परौ पञ्चरज्जूः।
लोकस्यान्तो विस्तृतो रज्जुमेकां,
सिद्धज्योतिश्चित्रको[2] यस्य मौलिः।।

लोकपुरुष के ऊर्ध्वभाग में ब्रह्मलोक नाम का पांचवां स्वर्गलोक है। वह लोकपुरुष का कोहनी-स्थानीय है और पांच रज्जु प्रमाण फैला हुआ है। लोकपुरुष का अन्तभाग एक रज्जु प्रमाण विस्तार वाला है। उसके मस्तक का तिलक है सिद्धज्योति—सिद्धशिला।

४. [3]यो वैशाखस्थानक[4]स्थायिपादः,
श्रोणीदेशे न्यस्तहस्तद्वयश्च।
कालेऽनादौ शश्वदूर्ध्वंदमत्वाद्,
बिभ्राणोऽपि श्रान्तमुद्रा[5]मखिन्नः।।

खड़े-खड़े मन्थन करते हुए मनुष्य के फैले हुए पैरों की भांति उस लोकपुरुष के पैर टिके हुए हैं। उसके कटिभाग पर कोहनी से मुड़े हुए दोनों हाथ रखे हुए हैं। अनादिकाल से वह शाश्वतरूप में खड़ा हुआ है। थके हुए पुरुष की मुद्रा को धारण करता हुआ भी वह खिन्न नहीं है।

५. [6]सोऽयं ज्ञेयः पूरुषो लोकनामा,
षड्द्रव्यात्माऽकृत्रिमोऽनाद्यनन्तः।
धर्माऽधर्माकाशकालात्मसंज्ञै-
र्द्रव्यैः पूर्णः सर्वतः पुद्गलैश्च।।

जिसका पूर्ववर्ती श्लोकों में वर्णन किया है वह लोक नाम का पुरुष है।

---

१. शालिनी। २. 'तिलके तमालपत्रचित्रपुण्ड्रविशेषकाः' (अभि. ३/३१७)। ३. शालिनी। ४. वैशाखस्थानक—युद्ध में कूटलक्ष्य को बाण से बींधने के लिए दोनों पैरों को हाथभर विस्तृत कर खड़े रहने की मुद्रा (अभि. ३/४४१)। वैशाख का एक अर्थ मन्थान भी है—'वैशाखः खजको मन्थाः' (अभि. ४/८९)। हमने यहां 'मंथान' परक अर्थ किया है। ५. लोकपुरुष के हाथ कटिभाग पर टिके हुए हैं। थका हुआ व्यक्ति इस प्रकार की मुद्रा को धारण करता है, इसलिए इसे श्रान्तमुद्रा कहा गया है। ६. शालिनी।

छह द्रव्य उसका शरीर है। वह अकृत्रिम तथा अनादि-अनन्त है। वह धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—इन छह द्रव्यों से परिव्याप्त है।

६. [1]**रङ्गस्थानं पुद्गलानां नटानां,**
नानारूपैर्नृत्यतामात्मनां च।
कालोद्योगस्वस्वभावादिभावैः,
कर्मातोद्यैर्नर्त्तितानां नियत्या।।

वह लोकपुरुष एक रंगमंच है। इसमें पुद्गल और जीवरूपी नट नाना रूप बनाकर नृत्य कर रहे हैं। काल, पुरुषार्थ, स्वभाव आदि भाव, कर्मरूपी वाद्य तथा नियति—ये सब उन्हें नचा रहे हैं।

७. [2]**एवं लोको भाव्यमानो विविक्त्या,**
विज्ञानां स्यान्मानसस्थैर्यहेतुः।
स्थैर्यं प्राप्ते मानसे चात्मनीना,
सुप्राप्यैवाऽध्यात्मसौख्यप्रसूतिः।।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न रूप से अनुचिन्तित किया जाता हुआ वह लोकपुरुष विज्ञजनों के लिए मन की स्थिरता का हेतु बनता है। मन की स्थिरता होने पर आत्महितकारी अध्यात्मसुख की उत्पत्ति सहज ही सुलभ बन जाती है।

गीतिका ११ : काफीरागेण गीयते—

विनय! विभावय शाश्वतं, हृदि लोकाकाशम्।
सकलचराचरधारणे, परिणमदवकाशम्।।१।।

हे विनय! तू अपने अन्तःकरण में शाश्वत लोकाकाश का अनुचिन्तन कर, जो सकल चर-अचर पदार्थों को धारण करने के लिए अवकाशरूप में परिणत हो रहा है।

लसदलोकपरिवेष्टितं, गणनाऽतिगमानम्[3]।
पञ्चभिरपि धर्मादिभिः सुघटितसीमानम्।।२।।

वह लोकपुरुष कान्तिमय अलोकाकाश से घिरा हुआ है। वह गणना से

१-२. शालिनी। ३. गणनामतिगतं मानं—प्रमाणं यस्य, तद्।

अतीत है—असंख्य है और उसकी सीमा धर्म आदि (अधर्म, काल, पुद्गल और जीव)—इन पांच द्रव्यों से सुघटित है।

समवघातसमये जिनैः[१] परिपूरितदेहम्।
असुमदणुकविविधक्रियागुणगौरवगेहम् ।।३।।

केवलियों द्वारा किए जाने वाले केवलीसमुद्घात के समय इस लोकपुरुष का शरीर व्याप्त हो जाता है—लोकपुरुष के प्रत्येक आत्मप्रदेश में केवली का एक-एक आत्मप्रदेश व्याप्त हो जाता है। वह जीव-पुद्गल की विविध क्रियात्मक गुण-गौरव का आस्थान बना हुआ है।

एकरूपमपि पुद्गलैः, कृतविविधविवर्तम्।
क्वचन शैलशिखरोन्नतं, क्वचिदवनतगर्तम्।।४।।

वह लोकाकाश एकरूप होने पर भी पुद्गलों की विविध संरचनाओं के कारण नाना रूपवाला बना हुआ है। कहीं वह पर्वतशिखरों से ऊंचा है तो कहीं वह गहरे गढ़ों वाला है।

क्वचन तविषमणिमन्दिरैरुदितोदितरूपम्।
घोरतिमिरनरकादिभिः, क्वचनाऽतिविरूपम्।।५।।

कहीं वह स्वर्ग के मणिजटित मन्दिरों से उदितोदित रूपवाला है तो कहीं वह घोर अन्धकारमय नरकों से अत्यन्त विकृत रूपवाला है।

क्वचिदुत्सवमयमुज्ज्वलं, जयमङ्गलनादम्।
क्वचिदमन्दहाहारवं पृथुशोकविषादम्।।६।।

कहीं वह लोकाकाश जयमंगल के नाद से मुखर विशद उत्सवमय वातावरण वाला है तो कहीं वह अत्यधिक शोक और विषाद के कारण तीव्र हाहाकार से युक्त है।

बहुपरिचितमनन्तशो, निखिलैरपि सत्त्वैः।
जन्ममरणपरिवर्त्तिभिः, कृतमुक्तममत्वैः।।७।।

---

१. जिन इति केवली।

ममत्व को करने और फिर उसे छोड़ने वाले तथा जन्म और मरण के चक्र में परिवर्तनशील सभी प्राणियों के द्वारा यह लोकाकाश अनन्त बार बहुत परिचित हो चुका है।

इह पर्यटनपराङ्मुखाः, प्रणमत भगवन्तम्।
शान्तसुधारसपानतो, धृतविनयमवन्तम्।।८।।

इस संसार-भ्रमण से पराङ्मुख बने हुए तुम भगवान् को प्रणाम करो, जो शान्तसुधारस के पान से विनय को धारण करने वाले पुरुष की रक्षा करते हैं।

१२. संकेतिका

इस जगत् में दुर्लभ क्या है? यह प्रश्न सदा से पूछा जाता रहा है। जिसने भीतर की गहराइयों में जाकर उसे समाहित करने का प्रयत्न किया, वह सत्य को उपलब्ध हो गया। जो केवल बाहर तक सीमित रहा उसके सामने धन-सम्पदा, ऐश्वर्य और सुख-सामग्री आदि पदार्थजगत् ही दुर्लभ रहा। हमेशा अर्थवत्ता के आधार पर ही वस्तु की दुर्लभता का अंकन होता है। जिसकी जितनी अर्थवत्ता सिद्ध हुई उसी को मनुष्य ने महत्त्व दिया और वही इस संसार का मूल्यवान् पदार्थ बना। जीवन का परम ध्येय है बोधि। जिसने बोधि को पा लिया उसने सब कुछ पा लिया। जो इससे वंचित रहा, उसने सब कुछ पाकर भी कुछ नहीं पाया। इस महान् उपलब्धि में शेष सभी उपलब्धियां समा जाती हैं। छोटी-मोटी उपलब्धियों में रहने वाला बड़ी उपलब्धि से वंचित रह जाता है, इसलिए इसका जो प्रयोजन सिद्ध होना चाहिए, हो नहीं पाता।

बोधि का अर्थ है—जागरण, सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना। यह रत्नत्रयी ही श्रेयस् की साधना है। साधना की दृष्टि से सम्यक् दर्शन का स्थान पहला है। उसके पश्चात् होता है सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र। जब तक सम्यग्दृष्टि नहीं होती तब तक न सम्यग्ज्ञान होगा और न सम्यग्चारित्र। साधना-काल में ये तीनों मोक्षमार्ग के साधन होते हैं, किन्तु सिद्धिकाल में ये तीनों स्वभाव या साध्य बन जाते हैं।

बोधि का एक अर्थ है—आत्मबोध, मोक्षमार्ग। जो साधन या पथ आत्मोपलब्धि और मोक्षप्राप्ति का हेतु बने वह साधन और पथ भी बोधि है, इसलिए आत्मा को जानना, देखना और आत्मरमण करना बोधि है। भगवान् महावीर ने कहा—**'संबोही खलु पेच्च दुल्लहा'** (सूयगडो, १/२/१)—संबोधि दुर्लभ है, क्योंकि इसकी संप्राप्ति के चार घटक दुर्लभ हैं—मनुष्य-जन्म, श्रुति, श्रद्धा और संयम में पराक्रम। यदि मनुष्य का जन्म भी मिल गया तो श्रुति मिलनी कठिन है। श्रुति मिलने पर श्रद्धा और संयम में पराक्रम होना उत्तरोत्तर

दुर्लभतर और दुर्लभतम हैं। जब इन चारों की शृंखला चलती है तब मनुष्य संबोधि को प्राप्त होता है। अन्यथा एक के अभाव में शेष तीन का कोई विशेष मूल्य नहीं रहता। इस दुर्लभता को जानते हुए गणधर गौतम और मेघकुमार जैसे मुनियों ने भगवान् से संबोधि प्राप्त की। जो इस सचाई को जानता है वह सदा जागरण का जीवन जीता है, संबोधि का जीवन जीता है। उसकी फलश्रुति होती है–

- **निरन्तर अप्रमाद और जागरूकता।**
- **समय का सदुपयोग।**
- **आनन्द की चिर अनुभूति।**

बोधिदुर्लभ भावना

१. [१]**यस्माद् विस्मापयितसुमनःस्वर्गसम्पद्विलास-**
प्राप्तोल्लासाः पुनरपि जनिः सत्कुले भूरिभोगे।
ब्रह्माद्वैतप्रगुणपदवीप्रापकं निःसपत्नं,
तद् दुष्प्रापं भृशमुरुधियः! सेव्यतां बोधिरत्नम्।।

हे विशाल बुद्धि के धनी मनुष्यो! जिससे मनुष्य ने विस्मित करने वाली देवों की स्वर्ग-सम्पदा के विलास से उल्लास प्राप्त किया, फिर वहां से च्युत होकर प्रचुर भोग वाले श्रेष्ठ कुल में जन्म लिया, जो ब्रह्माद्वैत (शुद्ध चैतन्यमय) की उत्कृष्ट पदवी को प्राप्त कराने वाला है, जो असाधारण है—जिसका कोई प्रतिपक्ष नहीं है, उस दुष्प्राप्य बोधिरत्न का तुम तीव्र भावना से आसेवन करो।

२. [२]**अनादौ निगोदान्धकूपे स्थिताना-**
मजस्रं जनुर्मृत्युदुःखार्दितानाम्।
परीणामशुद्धिः कुतस्तादृशी स्याद्,
यया हन्त! तस्माद् विनिर्यान्ति जीवाः।।

अनादिकालीन निगोदरूपी अंधकूप में पड़े हुए तथा निरन्तर जन्म-मृत्यु के दुःख से पीड़ित जीवों के वैसे शुद्ध परिणाम कैसे हो सकते हैं, जिससे वे उस अंधकूप से बाहर आ सकें।

३. [३]**ततो निर्गतानामपि स्थावरत्वं,**
त्रसत्वं पुनर्दुर्लभं देहभाजाम्।
त्रसत्वेऽपि पञ्चाक्षपर्याप्तसंज्ञि-
स्थिरायुष्यवद् दुर्लभं मानुषत्वम्।।

---

१. मन्दाक्रान्ता। २-३. भुजंगप्रयात।

उस निगोद से निकल जाने पर भी जीव स्थावर-योनि में जन्म लेते हैं। उनके लिए त्रस होना दुर्लभ है। त्रस होने पर भी पंचेन्द्रिय, पर्याप्त और समनस्क होना उत्तरोत्तर दुर्लभ होता है। इसके प्राप्त होने पर भी दीर्घ आयुष्य वाला मनुष्यजन्म मिलना दुर्लभ है।

४. [1]**तदेतन्मनुष्यत्वमाप्याऽपि मूढो,**
महामोहमिथ्यात्वमायोपगूढः।
भ्रमन् दूरमग्नो भवागाधगर्त्ते,
पुनः क्व प्रपद्येत तद् बोधिरत्नम्।।

उस मनुष्य-जन्म को पाकर भी महामोह, मिथ्यात्व और माया से आश्लिष्ट बना हुआ मूढ़ व्यक्ति संसार में भ्रमण करता हुआ और जन्म-मरण के अगाध गर्त्त में गहरा डूबा हुआ वह पुनः उस बोधिरत्न को कहां प्राप्त करता है?

५. [2]**विभिन्नाः पन्थानः प्रतिपदमनल्पाश्च मतिनः,**
कुयुक्तिव्यासंगैर्निजनिजमतोल्लासरसिकाः।
न देवाः सान्निध्यं विदधति न वा कोऽप्यतिशय-
स्तदेवं कालेऽस्मिन् य इह दृढधर्मा स सुकृती।।

इस कलिकाल में पग-पग पर अनेक पन्थ और अनेक मतावलम्बी हैं, जो कुतर्कों में आसक्त होकर अपने-अपने मतों को पुष्ट करने में रस ले रहे हैं। इस समय न देवता सान्निध्य—सन्निकटता कर रहे हैं और न ही कोई अतिशय प्राप्त है। ऐसे समय में जो व्यक्ति धर्म में दृढ़ है, वही पुण्यशाली है।

६. [3]**यावद्देहमिदं गदैर्न मृदितं नो वा जराजर्जरं,**
यावत्त्वक्षकदम्बकं स्वविषयज्ञानावगाहक्षमम्।
यावच्चायुरभङ्गुरं निजहिते तावद् बुधैर्यत्यतां,
कासारे स्फुटिते जले प्रचलिते पालिः कथं बध्यते?

जब तक यह शरीर रोगों से चूर-चूर न हो, जरा से जीर्ण न हो, जब तक इन्द्रियसमूह अपने-अपने विषयज्ञान के अवगाहन में समर्थ रहे, जब तक आयु क्षीण न हो तब तक विज्ञपुरुषों को अपने हित के लिए प्रयत्न कर लेना चाहिए। तालाब के फूट जाने तथा पानी के प्रवाहित हो जाने पर पाल को बांधने का प्रयोजन ही क्या?

१. भुजंगप्रयात। २. शिखरिणी। ३. शार्दूलविक्रीडित।

७. [1]विविधोपद्रवं देहमायुश्च क्षणभङ्गुरम्।
कामालम्ब्य धृतिं मूढैः स्वश्रेयसि विलम्ब्यते।।

यह शरीर रोग आदि विविध उपद्रवों से ग्रस्त है, आयु क्षणभंगुर है, फिर मूढ़ व्यक्ति किस धृति का अवलम्बन लेकर अपने कल्याण के लिए विलम्ब कर रहे हैं।

गीतिका १२ : धनश्रीरागेण गीयते–

बुध्यतां बुध्यतां बोधिरतिदुर्लभा
जलधिजलपतितसुररत्नयुक्त्या।
सम्यगाराध्यतां स्वहितमिह साध्यतां,
बाध्यतामधरगतिरात्मशक्त्या।।१।।

हे आत्मन्! जैसे समुद्र के जल में गिरे हुए चिन्तामणि रत्न का मिलना दुर्लभ है वैसे ही बोधि (सम्यक्त्व) का मिलना अतिदुर्लभ है। तुम जानो, जानो और उसकी तुम सम्यक् प्रकार से आराधना करो, इस जन्म में अपने हित की साधना करो, आत्मशक्ति से दुर्गति का निवारण करो।

चक्रिभोज्यादि[2]रिव नरभवो दुर्लभो,
भ्राम्यतां घोरसंसारकक्षे।
बहुनिगोदादिकायस्थितिव्यायते,
मोहमिथ्यात्वमुखचौरलक्षे।।२।।

मनुष्य का जन्म मिलना दुर्लभ है। चक्रवर्ती के भोजन आदि के (दस दृष्टान्तों) द्वारा इसकी दुर्लभता समझाई गई है। वह इसलिए दुर्लभ है कि यह जीव बहुत निगोद आदि कायस्थिति से विशाल और मोह तथा मिथ्यात्व प्रमुख लाखों चोरों से व्याप्त भयंकर संसार-अरण्य में भ्रमण कर रहा है।

लब्ध इह नरभवोऽनार्यदेशेषु यः,
स भवति प्रत्युताऽनर्थकारी।
जीवहिंसादिपापाश्रवव्यसनिनां,
माघवत्यादिमार्गाऽनुसारी।।३।।

---

१. अनुष्टुप्। २. देखें–परिशिष्ट (२) में 'सांकेतिक कथाएं'।

इस संसार में मनुष्य का जन्म मिला, पर अनार्यदेश में मिला, वह प्रत्युत अनर्थकारी हो जाता है। वहां उत्पन्न मनुष्य जीव-हिंसा आदि पापाश्रवों में आसक्त होते हैं। उनका मनुष्य-भव माघवती[1] आदि नरक के मार्ग की ओर जाने वाला हो जाता है।

आर्यदेशस्पृशामपि सुकुलजन्मनां,
दुर्लभा विविदिषा[2] धर्मतत्त्वे।
रतपरिग्रहभयाहारसंज्ञार्तिभिः,
हन्त! मग्नं जगद् दुःस्थितत्वे।।४।।

आर्यदेश की प्राप्ति और श्रेष्ठ कुल में जन्म हो जाने पर भी धर्मतत्त्व के विषय में जानने की इच्छा होना दुर्लभ है! खेद है! यह जगत् काम, परिग्रह, भय और आहारसंज्ञा से पीड़ित होकर दुर्दशा में डूबा हुआ है।

विविदिषायामपि श्रवणमतिदुर्लभं,
धर्मशास्त्रस्य गुरुसन्निधाने।
वितथविकथादितत्तद्रसावेशतो,
विविधविक्षेपमलिनेऽवधाने।।५।।

धर्मतत्त्व जानने की इच्छा होने पर भी गुरु के पास धर्मशास्त्र का श्रवण करना अतिदुर्लभ होता है, क्योंकि मनुष्य का अवधान (एकाग्रता) मिथ्या-विकथा आदि में होने वाले नाना रसों के आवेश से उत्पन्न अनेक चंचलताओं से मलिन हो रहा है।

धर्ममाकर्ण्य संबुध्य तत्रोद्यमं,
कुर्वतो वैरिवर्गोऽन्तरङ्गः।
रागरोषश्रमालस्यनिद्रादिको,
बाधते निहतसुकृतप्रसङ्गः।।६।।

धर्म को सुनकर और समझकर उसमें उद्यम करने वाले मनुष्य के सामने

---

१. नरक सात माने गए हैं। उनमें 'माघवती' सातवें नरक का नाम है। ठाणं (७/२३-२४) में नरकों के सात नाम और गोत्रों का उल्लेख है। नरकों के रत्नप्रभा आदि प्रचलित नाम उन नरकों के गोत्र हैं। नरकों के नाम हैं–१. धर्मा, २. वंशा, ३. शैला, ४. अंजना, ५. रिष्टा, ६. मघा, ७. माघवत। २. वेत्तुमिच्छा।

अन्तरंग शत्रुवर्ग बाधा उत्पन्न कर देता है। यह (शत्रुवर्ग) राग, द्वेष, श्रम (संयमाचरण में थकान), आलस्य और निद्रा आदि है। उसके द्वारा सुकृत के प्रसंग हत-प्रहत होते रहते हैं।

चतुरशीतावहो! योनिलक्षेष्वियं,
क्व त्वयाकर्णिता धर्मवार्ता।
प्रायशो जगति जनता मिथो विवदते
ऋद्धि-रस-सात-गुरु-गौरवार्ता।।७।।

आश्चर्य है! इस चौरासी-लक्ष परिमित जीवयोनि में तूने धर्मवार्ता कहां सुनी? इस जगत् में प्रायः जनता ऋद्धि, रस और सुख के गुरु-गौरव से पीड़ित बनी हुई परस्पर विवाद कर रही है।

एवमतिदुर्लभात्प्राप्य दुर्लभतमं,
बोधिरत्नं सकलगुणनिधानम्।
कुरु गुरु-प्राज्य-विनय-प्रसादोदितं,
शान्तरससरसपीयूषपानम्।।८।।

इस प्रकार समस्त गुण के निधान दुर्लभतम बोधिरत्न को अत्यन्त दुर्लभता से पाकर तू शान्तरसरूपी सरस अमृत का पान कर, जो गुरु के प्रति किए जाने वाले प्रचुर विनय के प्रसाद से उपलब्ध होता है।

१३. संकेतिका

सर्दी की ठिठुरती लम्बी रातें और पैर में चुभा हुआ कांटा! सारा ध्यान उस चुभन की ओर खिंच जाता है, अन्तःकरण अनायास ही अप्रसन्नता से भर जाता है। शत्रुता भी मनुष्य का एक कांटा है। जब-जब उसकी स्मृति प्रखर होती है तब-तब मनुष्य उस मानसिक चुभन से कराह उठता है। प्रतिशोध की भावना से उस चुभन का निवारण करना चाहता है। मनुष्य सामाजिक चेतना में जीता है। राग-द्वेष उसके सहचर हैं। किसी को वह मित्र और किसी को वह शत्रु बनाता है। शत्रु उतना बुरा नहीं होता जितना बुरा होता है शत्रुता का भाव। जब तक अन्तःकरण में शत्रुता का भाव बना रहता है तब तक मनुष्य निःशल्य नहीं बन सकता। वह शल्य उसके अनिष्ट का उत्तरदायी है।

मैत्री का विकास समत्व का विकास है, अभय का विकास है। भय और शत्रु—ये दोनों अलग-अलग शब्द नहीं हैं। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जिसका मन भय से उद्विग्न होता है वही दूसरे को शत्रु मानता है। जिसके मन में कोई भय नहीं होता, वह अनिष्ट करने वालों को अज्ञानी मान सकता है, किन्तु उसे शत्रुरूप में स्वीकार नहीं कर सकता। मित्र के प्रति मित्रता स्वाभाविक है, किन्तु शत्रु के प्रति मैत्रीभाव अस्वाभाविक हो सकता है। जिसने मैत्री के इस महान् सूत्र को आत्मसात् किया, सबके प्रति मैत्री का प्रयोग किया, उसने इस जगतीतल में **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** का उदाहरण प्रस्तुत किया।

भगवान् महावीर मैत्री के मंत्रदाता थे। उन्होंने कहा—दूसरे का अनिष्ट करना या दूसरे का अनिष्ट सोचना स्वयं का ही अनिष्ट करना है। जो व्यक्ति इस सूत्र को पकड़ लेता है, वह कभी अनिष्ट का चिन्तन कर ही नहीं सकता। जीवन में रुचि और चिन्तन का भेद होता है, व्यवस्था और व्यवहार का भेद होता है, रहन-सहन और खान-पान का भेद होता है। भेद को कभी मिटाया नहीं जा सकता। जहां जीवन है वहां भेद रहेगा ही। उस भेद की जननी है यह राग-द्वेष की धारा। यह विभेद कभी-कभी मन में शत्रुता और द्वेष का प्रादुर्भाव

कर देता है, जो स्वयं के लिए अनिष्टकर बन जाता है। मैत्री की भावना जागने पर अनेक समस्याएं समाहित हो जाती हैं और यह ऐसा पक्ष है जिसके समक्ष कोई शत्रु रहता ही नहीं। **'मित्ती मे सव्वभूएसु'** मेरी सब प्राणियों के साथ मैत्री है—इस अनुप्रेक्षा से अपनी चेतना को पुष्ट करने वाला साधक मैत्री के उस छोर तक पहुंच जाता है, जहां जाने पर प्रतिफलित होता है—

- **प्रतिक्रिया से मुक्ति।**
- **अभय का विकास।**
- **अपने द्वारा अपनी खोज।**

मैत्री भावना

१. [१]**सद्धर्मध्यानसंधान-हेतवः श्रीजिनेश्वरैः।**
मैत्रीप्रभृतयः प्रोक्ताश्चतस्रो भावनाः पराः।।

पवित्र धर्मध्यान के संधान करने में हेतुभूत मैत्री आदि (कारुण्य, प्रमोद तथा माध्यस्थ) अन्य चार भावनाओं का तीर्थंकरों ने निरूपण किया है।

२. [१]**मैत्रीप्रमोदकारुण्य-माध्यस्थ्यानि नियोजयेत्।**
धर्मध्यानमुपस्कर्तुं तद्धि तस्य रसायनम्।।

धर्मध्यान का उपस्कार (संस्कार) करने के लिए व्यक्ति मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाओं का अपने अन्तःकरण में नियोजन करें। वह नियोजन धर्मध्यान के लिए रसायन है।

३. [२]**मैत्री परेषां हितचिन्तनं यद्, भवेत् प्रमोदो गुणपक्षपातः।**
कारुण्यमार्ताऽङ्गिरुजां जिहीर्षेत्युपेक्षणं दुष्टधियामुपेक्षा।।

दूसरों का हितचिन्तन करना मैत्रीभावना है। गुणों के प्रति अनुराग होना प्रमोदभावना है। दुःखी प्राणियों के कष्टनिवारण की इच्छा करना कारुण्यभावना है तथा दुष्टबुद्धि वाले लोगों के प्रति उदासीन रहना उपेक्षा या माध्यस्थ्य भावना है।

४. [३]***सर्वत्र मैत्रीमुपकल्पयात्मन्!, चिन्त्यो जगत्यत्र न कोऽपि शत्रुः।***
कियद्दिनस्थायिनि जीवितेऽस्मिन्, किं खिद्यसे वैरिधिया परस्मिन्।।

हे आत्मन्! तू सर्वत्र मैत्री की उपकल्पना कर, अनुप्रेक्षा कर। इस जगत् में मेरा कोई भी शत्रु नहीं है, ऐसा अनुचिन्तन कर। यह जीवन कितने दिनों

१-२. अनुष्टुप्। ३-४. उपजाति।

तक स्थायी रहने वाला है? उसमें दूसरे के प्रति शत्रुबुद्धि रखकर तू क्यों खिन्न हो रहा है?

५. [1]**सर्वेऽप्यमी बन्धुतयाऽनुभूताः, सहस्रशोऽस्मिन् भवता भवाब्धौ।**
जीवास्ततो बन्धव एव सर्वे, न कोऽपि ते शत्रुरिति प्रतीहि।।

यह संसार एक समुद्र है। इसमें तूने इन सभी प्राणियों के साथ हजारों बार बन्धुता का अनुभव किया है, इसलिए वे सभी जीव तेरे बन्धु ही हैं, कोई भी तेरा शत्रु नहीं है, ऐसी प्रतीति कर।

६. [2]**सर्वे पितृभ्रातृपितृव्यमातृ-पुत्राङ्गजास्त्रीभगिनीस्नुषात्वम्।**
जीवाः प्रपन्ना बहुशस्तदेतत्, कुटुम्बमेवेति परो न कश्चित्।।

सभी प्राणी अनेक बार तुम्हारे पिता, भाई, चाचा, माता, पुत्र, पुत्री, पत्नी, बहिन और पुत्रवधू बन चुके हैं, इसलिए यह जगत् तुम्हारा कुटुम्ब ही है, पराया कोई नहीं है।

७. [3]**एकेन्द्रियाद्या अपि हन्त! जीवाः, पञ्चेन्द्रियत्वाद्यधिगत्य सम्यक्।**
बोधिं समाराध्य कदा लभन्ते, भूयो भवभ्रान्तिभियाविरामम्।।

एकेन्द्रिय आदि जीव भी पंचेन्द्रियत्व आदि (मनुष्यजन्म, सुकुलजन्म, आर्यक्षेत्र तथा धर्मश्रवण) को सम्यक्रूप से पाकर बोधिरत्न की समाराधना करते हुए बार-बार होने वाले भवभ्रमण के भय से कब विराम लेंगे?

८. [4]**या रागरोषादिरुजो जनानां, शाम्यन्तु वाक्कायमनोद्रुहस्ताः।**
सर्वेऽप्युदासीनरसं रसन्तु, सर्वत्र सर्वे सुखिनो भवन्तु।।

मनुष्यों के वे राग-द्वेष आदि रोग शान्त हों, जो उनके शरीर, वाणी और मन को उपहत करते रहते हैं। सभी लोग उदासीन (माध्यस्थ्य) रस का पान करें तथा सभी सर्वत्र सुखी बनें।

गीतिका १३ : देशाखरागेण गीयते—

विनय! विचिन्तय मित्रतां, त्रिजगति जनतासु।
कर्मविचित्रतया गतिं, विविधां गमितासु।।१।।

१-२. उपजाति। ३-४. इन्द्रवज्रा।

हे विनय! जो कर्मविचित्रता के कारण विविध गति को प्राप्त है, उस तीनों लोकों में विद्यमान जनता के साथ तू मित्रता का विचिन्तन कर।

सर्वे ते प्रियबान्धवा, नहि रिपुरिह कोऽपि।
मा कुरु कलिकलुषं मनो, निजसुकृतविलोपि।।२।।

इस जगत् में वे सभी प्राणी तेरे प्रिय बन्धु हैं, कोई भी तेरा शत्रु नहीं है। तू अपने मन को कलह से कलुषित मत बना, जो अपने सुकृत का नाश करने वाला है।

यदि कोपं कुरुते परो, निजकर्मवशेन।
अपि भवता किं भूयते, हृदि रोषवशेन।।३।।

यदि दूसरा व्यक्ति अपने कर्मों के परवश होकर तुम्हारे पर क्रोध करता है तो क्या तुम्हें भी हृदय से रोष की अधीनता स्वीकार कर लेनी चाहिए?

अनुचितमिह कलहं सतां, त्यज समरसमीन!।
भज विवेककलहंसतां, गुणपरिचयपीन!।।४।।

हे समतारस के मीन! इस जगत् में सज्जन पुरुषों के लिए कलह करना उचित नहीं है, इसलिए तू उसे छोड़। हे गुणपरिचय से पुष्ट चेतन! तू अपने हिताहित का विवेक करने के लिए कलहंसवृत्ति[१] को स्वीकार कर।

शत्रुजनाः सुखिनः समे, मत्सरमपहाय।
सन्तु गन्तुमनसोऽप्यमी शिवसौख्यगृहाय।।५।।

सभी शत्रुजन मत्सरभाव को छोड़कर सुखी हों और वे मोक्षसुख वाले गृह में जाने के इच्छुक बनें।

सकृदपि यदि समतालवं, हृदयेन लिहन्ति।
विदितरसास्तत इह रतिं, स्वत एव वहन्ति।।६।।

यदि कोई एक बार भी हृदय से समतारस के कण का आस्वादन कर

---

१. कलहंस–एक प्रकार का हंस, जिसके पंख अत्यन्त धूसर रंग के होते हैं– 'कादम्बास्तु कलहंसाः पक्षैः स्युरतिधूसरैः' (अभि. ४/३९३)। उसकी वृत्ति अर्थात् क्षीर-नीर-विवेक।

लेता है तो वह उसके रस से परिचित होकर अपने आप ही उसमें रमण करने लग जाता है।

किमुत कुमतमदमूर्च्छिता, दुरितेषु पतन्ति।
जिनवचनानि कथं हहा!, न रसादुपयन्ति।।७।।

मनुष्य कुमत के मद से मूर्च्छित होकर पापों में क्यों गिर रहे हैं? खेद है! वे रस (प्रीति) पूर्वक जिनवचनों को क्यों नहीं स्वीकार कर रहे हैं?

परमात्मनि विमलात्मना, परिणम्य वसन्तु।
विनय! समामृतपानतो, जनता विलसन्तु।।८।।

हे विनय! सभी लोग विमल अन्तःकरण से परमात्मा में लीन होकर निवास करें और वे समतारूपी अमृत के पान से प्रमोद का अनुभव करें।

१४. संकेतिका

ईर्ष्या मनुष्य की केकड़ावृत्ति है। जिस प्रकार केकड़ा अपने साथी केकड़े को सहन नहीं कर सकता, वह उसे नीचे गिरा देता है, उसी प्रकार ईर्ष्यालु व्यक्ति गुणीजनों के गुणोत्कर्ष को देख नहीं सकता। वह उसे येन-केन प्रकारेण नीचे गिराने का प्रयत्न करता है। दुनिया में ऐसे लोग बहुत कम हैं, जो दूसरों की अच्छाइयों को देखते हुए प्रमुदित होते हैं, उनके प्रति आदर का भाव प्रकट करते हैं।

मनुष्य के भीतर दो भावधाराएं अपना कार्य करती हैं। एक भावधारा है अवगुण की तो दूसरी भावधारा है गुण की। इन दोनों भावधाराओं के मध्य जीने वाला व्यक्ति अपने आपमें कभी पूर्ण नहीं होता। उसमें कुछ दुर्बलताएं होती हैं तो कुछ सबलताएं होती हैं। कुछ अक्षमताएं होती हैं तो कुछ क्षमताएं भी होती हैं। कभी छोटी-बड़ी भूलें होती हैं तो कभी महत्त्वपूर्ण कार्य होते हैं, छिद्रान्वेषी हमेशा दूसरों के छिद्रों को ही देखता है। वह हजार अच्छाइयां होने पर भी बुराइयों को ही खोजता है। यह है मनुष्य की मानसिकवृत्ति और मनोदशा का एक चित्रण।

ईर्ष्या उत्पन्न होने का मुख्य कारण है आत्मा की समानता में अविश्वास। जो व्यक्ति प्रत्येक आत्मा को समान मानता है, प्रत्येक आत्मा को अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति से सम्पन्न देखता है, वह कभी ईर्ष्या नहीं कर सकता। प्रत्येक आत्मा को विकास करने का अधिकार है। प्रत्येक आत्मा अपने आप में स्वतन्त्र है, फिर ईर्ष्या किसलिए? दूसरों के विकास को अस्वीकार करने का अर्थ है गुणों की श्रेष्ठता को नकारना, सत्यता पर पर्दा डालना। अच्छाई में विश्वास करने वाला व्यक्ति कभी ऐसी आंखमिचौनी नहीं कर सकता। संसार में ऐसे बहुत लोग हैं जो दान, शील और तप के कारण बहुमान को प्राप्त हैं। ऐसी बहुत-सी महिलाएं हैं जो सुविवेक और सदाचरण से जन-जन को प्रेरित कर रही हैं। ऐसे

साधु-साध्वियां हैं जो आत्म-आराधना के द्वारा दूसरों का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं। ऐसी शक्ति और सामर्थ्य का सभी में मिल पाना असंभव है। व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह उन सबकी अनुमोदना करे। प्रमोद अनुप्रेक्षा एक ऐसा दर्पण है, जिसमें देखता हुआ मनुष्य दूसरों के गुणों को आत्मसात् कर लेता है। इस संसार में आने की तभी सार्थकता है कि यह जीभ दूसरों के गुणानुवाद में अनुरक्त रहे, श्रुतिपुट दूसरों के गुणों को सुनने में तत्पर रहें, लोचन-युगल दूसरों की अच्छाइयों को देखते रहें। सर्वत्र प्रमोद ही प्रमोद। यदि जीवन में ऐसा संस्कार पुष्ट होता है तो उससे तीन बातें फलित होती हैं–

- **गुणग्राहकता।**
- **मन की प्रसन्नता।**
- **आत्मौपम्य भावना का विकास।**

प्रमोद भावना

१. [1]धन्यास्ते वीतरागाः क्षपकपथगतिक्षीणकर्मोपरागा-
स्त्रैलोक्ये[2] गन्धनागाः सहजसमुदितज्ञानजाग्रद्विरागाः।
अध्यारुह्यात्मशुद्ध्या सकलशशिकलानिर्मलध्यानधारा-
मारान्मुक्तेः प्रपन्नाः कृतसुकृतशतोपार्जितार्हन्त्य[3]लक्ष्मीम्।।

धन्य हैं वे वीतराग, जिन्होंने क्षपकश्रेणी की गति में आरोहण कर कर्मों से होने वाले उपद्रवों को क्षीण कर दिया है, जो त्रिलोकी में गन्धहस्ती के समान हैं, जो सहज प्रकट होने वाले ज्ञान से विकासमान वैराग्य वाले हैं, जो आत्मशुद्धि से सम्पूर्ण चन्द्रकला की भांति निर्मलध्यानधारा का आरोहण कर तथा पूर्वकृत सैकड़ों सुकृतों के द्वारा उपार्जित आर्हत्-लक्ष्मी का वरण कर मुक्ति के समीप पहुंच गए हैं।

२. [4]तेषां कर्मक्षयोत्थैरतनुगुणगणैर्निर्मलात्मस्वभावै-
र्गायं गायं पुनीमः स्तवनपरिणतैरष्टवर्णास्पदानि।
धन्यां मन्ये रसज्ञां जगति भगवतस्स्तोत्रवाणीरसज्ञा-
मज्ञां मन्ये तदन्यां वितथजनकथाकार्यमौखर्यमग्नाम्।।

उन वीतराग के कर्मक्षय से उत्पन्न निर्मल आत्मस्वभाव वाले स्तुतिरूप में परिणत विपुल गुणसमूह के द्वारा गा-गा कर हम आठ वर्ण स्थानों[5] को पवित्र कर रहे हैं। मैं उस रसना को धन्य मानता हूं, जो इस जगत् में भगवान् के स्तुतिवचन के रस का अनुभव करती है तथा उससे भिन्न रसना को जो तथ्यहीन जनकथा के कार्य की मुखरता में निमग्न है, अज्ञ—अधन्य मानता हूं।

---

१. स्रग्धरा। २. अत्र स्वार्थे ट्यण्प्रत्ययः—'चतुर्वर्णादिभ्यष्ट्यण्' (भिक्षु. ७/४/९५)। ३. अर्हतः भावः कर्म वा इति विग्रहे 'अर्हतो नुम् च' (भिक्षु. ७/३/६२) इति सूत्रेण ट्यण्प्रत्ययः नुमागमश्च। ४. स्रग्धरा। ५. उर, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु—ये आठ वर्णस्थान हैं।

३. [1]निर्ग्रन्थास्तेऽपि धन्या गिरिगहनगुहागह्वरान्तर्निविष्टाः,
धर्मध्यानाऽवधानाः समरससुहिताः पक्षमासोपवासाः।
येऽन्येपि ज्ञानवन्तः श्रुतविततधियो दत्तधर्मोपदेशाः,
शान्ता दान्ता जिताक्षा जगति जिनपतेः शासनं भासयन्ति।।

वे निर्ग्रन्थ भी धन्य हैं, जो पर्वतों की गहन कन्दराओं के गहरे अन्तराल में बैठे हुए हैं, जो धर्मध्यान में एकाग्र बने हुए हैं, समरस से तृप्त हैं और पक्ष-पक्ष, मास-मास का उपवास कर रहे हैं। वे दूसरे निर्ग्रन्थ भी धन्य हैं, जो ज्ञान की आराधना में संलग्न हैं, श्रुत के अध्ययन से विशाल बुद्धि वाले हैं, धर्म का उपदेश दे रहे हैं तथा शान्त, दान्त और जितेन्द्रिय होकर इस जगत् में जिन भगवान् के शासन को तेजस्वी बना रहे हैं।

४. [2]दानं शीलं तपो ये विदधति गृहिणो भावनां भावयन्ति,
धर्मं धन्याश्चतुर्धा श्रुतसमुपचितश्रद्धयाराधयन्ति।
साध्व्यः श्राद्ध्यश्च धन्याः श्रुतविशदधिया शीलमुद्भावयन्त्य-
स्तान् सर्वान्मुक्तगर्वाः प्रतिदिनमसकृद् भाग्यभाजः स्तुवन्ति।।

वे गृहस्थ धन्य हैं, जो दान, शील और तप के आचरण में रत हैं, भावना का अनुशीलन करते हैं, जो श्रुत से पुष्ट श्रद्धा के द्वारा इस चतुर्विध धर्म की आराधना करते हैं। वे साध्वियां और श्राविकाएं धन्य हैं, जो श्रुत से निर्मल बुद्धि के द्वारा शीलधर्म का पालन करती हैं। पुण्यशाली लोग गर्वमुक्त होकर प्रतिदिन उन सबकी बार-बार स्तुति करते हैं।

५. [3]मिथ्यादृशामप्युपकारसारं, संतोषसत्यादिगुणप्रसारम्।
वदान्यता [4]वैनयिकप्रकारं, [5]मार्गानुसारीत्यनुमोदयामः।।

मिथ्यादृष्टि मनुष्यों के भी उपकारप्रधान-प्रवृत्ति, संतोष, सत्य आदि गुण-समूह, दानशीलता और विनम्रप्रकृति—ये सब मोक्षमार्ग का अनुसरण करने वाले हैं, हम इनका अनुमोदन करते हैं।

१-२. स्रग्धरा। ३. उपजाति। ४. 'दानशीलः स वदान्यो' (अभि. ३/१५)। ५. जो सम्यग्दृष्टि नहीं है, किन्तु मोक्षमार्ग का अनुसरण करने वाली क्रिया करता है उसका नाम है मार्गानुसारी।

६. [1]**जिह्वे! प्रह्वीभव त्वं सुकृतिसुचरितोच्चारणे सुप्रसन्ना,**
भूयास्तामन्यकीर्त्तिश्रुतिरसिकतया मेऽद्य कर्णौ सुकर्णौ।
वीक्ष्याऽन्यप्रौढलक्ष्मीं द्रुतमुपचिनुतं लोचने! रोचनत्वं,
संसारेऽस्मिन्नसारे फलमिति भवतां जन्मनो मुख्यमेव।।

हे जीभ! तू पुण्यवान् पुरुषों के सच्चरित्र-उच्चारण में प्रसन्नता के साथ अनुरक्त बन। अब मेरे दोनों कान दूसरों की यशश्रुति के रसिक होकर अच्छे कान बनें। हे लोचन! तुम दूसरों की विशाल लक्ष्मी को देखकर शीघ्र प्रीतिमान् बनो। इस असार संसार में तुम सबके (जीभ, कान और लोचन) जन्म का यही मुख्य फल है।

७. [2]**प्रमोदमासाद्य गुणैः परेषां, येषां मतिर्मज्जति[3] साम्यसिन्धौ।**
देदीप्यते तेषु मनःप्रसादो, गुणास्तथैते विशदीभवन्ति।।

दूसरों के गुणों के प्रति प्रमुदित होकर जिनकी बुद्धि समतासिन्धु में निमज्जन करती है उन मनुष्यों में मन की प्रसन्नता दीप्त होती है और उनमें वे गुण (जिन गुणों के प्रति वह प्रमोद भावना करता है) निर्मल हो जाते हैं—प्रकट हो जाते हैं।

गीतिका १४ : टोडीरागेण गीयते—

विनय! विभावय गुणपरितोषं,
निजसुकृताप्तवरेषु परेषु।
परिहर दूरं मत्सरदोषं,
विनय! विभावय गुणपरितोषम्।।१।।

हे विनय! तू गुणों के प्रति आनन्द का अनुभव कर। जिन्हें स्वयं के सुकृत का वर प्राप्त है उन दूसरों के प्रति मात्सर्य को मन से बाहर निकाल फेंक।

---

१. स्रग्धरा। २. उपजाति। ३. टुमस्जोंज्–शुद्धौ, शुद्ध्या स्नानं ब्रुडनं च लक्ष्यते।

[1]दिष्ट्याऽयं वितरति बहुदानं,
वरमयमिह लभते बहुमानम्।
किमिति न विमृशसि परपरभागं,
[2]यद्विभजसि तत्सुकृतविभागम्[3]।।२।।

परम हर्ष है कि यह बहुत दान देता है, बहुत अच्छा है कि यह यहां बहुमान को प्राप्त होता है–इस प्रकार तू दूसरों के गुणोत्कर्ष का विमर्श क्यों नहीं करता, जिससे तू उनके सुकृत के विभाग को प्राप्त कर सके।

येषां मन इह विगतविकारं,
ये विदधति भुवि जगदुपकारम्।
तेषां वयमुचिताचरितानां,
नाम जपामो वारं वारम्।।३।।

जिसका मन विकाररहित है, जो इस धरातल पर जगत् का उपकार करते हैं उन समुचित चारित्र वाले पुरुषों के नाम का हम बार-बार स्मरण करते हैं।

अहह! तितिक्षागुणमसमानं,
पश्यत भगवति मुक्तिनिदानम्।
येन रुषा सह लसदऽभिमानं,
झटिति विघटते कर्मवितानम्।।४।।

अहो! तुम भगवान् में असाधारण और मुक्ति के कारणभूत तितिक्षागुण को देखो, जिससे क्रोध के साथ बढ़ते हुए अभिमान वाला कर्मविस्तार शीघ्र ही विघटित हो जाता है।

अदधुः केचन शीलमुदारं,
गृहिणोऽपि परिहृतपरदारम्।
यश इह संप्रत्यपि शुचि तेषां,
विलसति फलिताऽफलसहकारम्।।५।।

कुछेक गृहस्थों ने भी परस्त्री का परित्याग कर महान् शील को धारण

१. दिष्ट्या–यह अव्यय है। इसका अर्थ है अधिक हर्ष–'दिष्ट्या तु सम्मदे' (अभि. ६/१६४)। २. यहां यद् अव्यय है। इसका अर्थ है यस्मात्–जिससे। 'हेतौ यत्तद् यतस्ततः' (अभि. ६/१७३)। ३. तत्सुकृतविपाकमित्यपि पाठः।

किया है। उनका पवित्र यश अभी भी इस जगत् में फलित हुए अफल आम्र की तरह शोभित हो रहा है।

या वनिता अपि यशसा साकं,
कुलयुगलं विदधति सुपताकम्।
तासां सुचरितसंचितराकं,
दर्शनमपि कृतसुकृतविपाकम्।।६।।

जो स्त्रियां यश के साथ दोनों कुलों (पीहर और ससुराल) की सुन्दर ध्वजा को फहराती हैं, उनका दर्शन भी अच्छे आचरण से संचित सुवर्ण जैसा और किए हुए सुकृत का फल है।

तात्त्विक-सात्त्विक-सुजन-वतंसाः[1],
केचन युक्तिविवेचनहंसाः।
अलमकृषत किल भुवनाभोगं,
स्मरणममीषां कृतशुभयोगम्।।७।।

कुछ सुजनशिरोमणि तत्त्वज्ञ और सात्त्विक (आत्मा में रमण करने वाले) होते हैं और कुछ युक्ति-विवेचन (यथार्थ और अयथार्थ का पृथक्करण) करने के लिए हंसतुल्य होते हैं। उन सबने इस विशाल जगत् को शोभित किया है। उनका स्मरण भी शुभयोग का हेतु है।

इति परगुणपरिभावनसारं,
सफलय सततं निजमवतारम्।
कुरु सुविहित[2]गुणनिधिगुणगानं,
विरचय शान्तसुधारसपानम्।।८।।

इस प्रकार तू दूसरों के गुण के परिभावन–अनुचिन्तन से सारभूत बने हुए अपने जन्म को सतत सफल बना तथा गुणों के निधान, सुविहित–आचारसम्पन्न पुरुषों का गुणगान कर और शान्तसुधारस का पान कर।

---

१. 'अवाप्योस्तंसनद्धादिष्वादेः' (भिक्षु. ३/२/१५१) इति सूत्रेण आदेः अकारस्य वैकल्पिको लोपः–वतंसः, अवतंसः इति। २. प्राचीनकाल में चैत्यवासी और संविग्न–ये दो पक्ष थे। संविग्न (आचार-कुशल) साधुओं के लिए सुविहित का प्रयोग किया जाता रहा है।

१५. संकेतिका

जहां करुणा की वृष्टि होती है वहां फलित होता है—सौहार्द, प्रेम और सुजनता। जहां उसका अकाल होता है वहां पनपती है—क्रूरता, निर्दयता, रूखापन, तिरस्कार और अवमानना। करुणा जीवन का महान् दर्शन है। जिसने इस सचाई को अपने भीतर संजोया वह दुनिया का महापुरुष कहलाया। जिसकी आंखों में करुणा का अजस्र स्रोत बहता है, जिसका अन्तःकरण सदा करुणारस से आप्लावित रहता है और जिसका सारा व्यवहार करुणामय होता है, वह व्यक्ति तदात्मकता के सूत्र को कभी विच्छिन्न नहीं कर सकता। उस तदात्मकता के दो सूत्र हैं—सहानुभूति और करुणा। जब-जब मनुष्य ने किसी कठिनाई का अनुभव किया तब-तब सहानुभूति ही एकमात्र उसका संबल बनी। रोते हुए के आंसुओं को पोंछने वाला और दुःखियों को सान्त्वना देने वाला कोई हो सकता है तो वह है करुणाशील व्यक्ति।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे परस्पर सहयोग की अपेक्षा होती है। आचार्य उमास्वाति ने लिखा—**'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'**—जीवों का परस्पर उपग्रह—सहयोग होता है। दुनिया में कोई भी बिना सहयोग के नहीं रह सकता। अर्थ और कार्य का सहयोग करने वाले बहुत मिलेंगे, किन्तु स्वार्थ के वशीभूत होकर। परन्तु निःस्वार्थभाव से सान्त्वना देकर सहयोग करने वाले बहुत कम मिलते हैं। दुःख पाने वाले प्राणियों के प्रति मन में करुणा का भाव न जागे, इससे बढ़कर आदमी में क्या क्रूरता हो सकती है? जब-जब मनुष्य के भीतर करुणा का ह्रास हुआ तब-तब मनुष्य ने न जाने कितने अमानवीय कुकृत्य किए! यह केवल नया इतिहास ही नहीं, बहुत पुराना इतिहास है। इस क्रूरता ने ही समाज को दो वर्गों में विभक्त किया, अमीर और गरीब को बांटा, पूंजीवाद और साम्यवाद को जन्म दिया। बहुत बड़ा आश्चर्य है कि व्यक्ति फिर भी अपने आपको धार्मिकता के रंग में रंगा हुआ अनुभव करता है। वह क्रूरता और धर्म को एक साथ चला रहा है। जो क्रूर या निर्दय होता है वह

कभी धार्मिक नहीं हो सकता, अहिंसक नहीं हो सकता। धार्मिक जीवन जीने के लिए आवश्यक है कि उसमें करुणा का विकास हो। अहिंसक बनने के लिए आवश्यक है कि वह संवेदनशील बने। क्रूरता से आक्रान्त व्यक्ति अपने ही हाथों गढा खोद रहा है और स्वयं ही उसमें गिर रहा है, फिर उसे बचाने वाला कौन हो सकता है? जिस व्यक्ति ने करुणा का विकास कर लिया उसने अकषाय, सम्यग्दृष्टि और अप्रमाद का विकास कर लिया। करुणा के परमाणु जब आसपास में विकीर्ण होते हैं तब सारा वातावरण करुणा से आप्लावित हो जाता है और उसकी परिधि में जीने वाला व्यक्ति शान्ति का अनुभव करता है। क्रूरता का विसर्जन कर करुणारस से अपने आपको अनुप्राणित करने वाला मनुष्य ही सत्य की दिशा में प्रस्थान करता है और फिर वहां से प्रस्फुटित होता है—

- **तादात्म्यभाव।**
- **जीवन जीने की कला।**
- **समत्व और मानसिक शान्ति का अनुभव।**

कारुण्य भावना

१. [1]**प्रथममशनपानप्राप्तिवांछाविहस्ता**[2]-
स्तदनु वसनवेश्माऽलङ्कृतिव्यग्रचित्ताः।
परिणयनमपत्याऽवाप्तिमिष्टेन्द्रियाऽर्थान्,
सततमभिलषन्तः स्वस्थतां क्वाऽश्नुवीरन्?

पहली समस्या है कि मनुष्य भोजन-पानी को उपलब्ध करने की इच्छा से व्याकुल है। दूसरी समस्या—वस्तु, घर और अलंकार की प्राप्ति के लिए चित्त व्यग्र बना हुआ है। तीसरी समस्या—विवाह, सन्तानप्राप्ति, मनोज्ञ इन्द्रियविषयों को निरन्तर पाने की अभिलाषा बनी हुई है। इस स्थिति में वह स्वास्थ्य को कहां उपलब्ध होता है?

२. [3]**उपायानां लक्षैः कथमपि समासाद्य विभवं,**
भवाऽभ्यासात् तत्र ध्रुवमिति निबध्नाति हृदयम्।
अथाऽकस्मादस्मिन् विकिरति रजः क्रूरहृदयो,
रिपुर्वा रोगो वा भयमुत जरा मृत्युरथवा।।

लाखों उपायों से किसी प्रकार मनुष्य धन को प्राप्त करता है, फिर वह अनेक जन्मों के अभ्यास के कारण उसे ध्रुव मानकर उसमें हृदय को स्थापित कर देता है—आसक्ति के बन्धन से बंध जाता है। कभी अचानक क्रूरहृदय वाला शत्रु अथवा रोग, भय, जरा और मृत्यु उसमें धूल डाल देती है—उसका नाश या वियोग कर देती है।

---

१. मालिनी। २. 'विहस्तव्याकुलौ व्यग्रे' (अभि. ३/३०)। ३. शिखरिणी।

३. [1]स्पर्धन्ते केऽपि केचिद् दधति हृदि मिथो मत्सरं क्रोधदग्धाः,
युध्यन्ते केऽप्यरुद्धा धनयुवतिपशुक्षेत्रपद्रादि[2]हेतोः।
केचिल्लोभाल्लभन्ते विपदमनुपदं दूरदेशानटन्तः,
किं कुर्मः किं वदामो भृशमरतिशतैर्व्याकुलं विश्वमेतत्।।

कुछ मनुष्य परस्पर स्पर्धा करते हैं, कुछ क्रोध से जले हुए परस्पर हृदय में मात्सर्य रखते हैं, कुछ उच्छृंखल होकर धन, स्त्री, पशु, खेत, ग्राम, नगर आदि के लिए युद्ध कर रहे हैं, कुछ लोभ के कारण दूर देशों में घूमते हुए पग-पग पर विपदा को झेलते हैं। क्या करें और क्या कहें? यह जगत् सैकड़ों कष्टों से अत्यन्त व्याकुल बना हुआ है।

४. [1]स्वयं खनन्तः स्वकरेण गर्तां, मध्ये स्वयं तत्र तथा पतन्ति।
यथा ततो निष्क्रमणं तु दूरेऽधोऽधः प्रपाताद् विरमन्ति नैव।।

मनुष्य अपने हाथों से स्वयं गढा खोद रहा है और स्वयं ही उसमें वैसे गिर रहा है जिससे कि उससे निकलना तो दूर रहा, किन्तु और अधिक नीचे से नीचे गिरता जा रहा है, वह कहीं भी विराम नहीं देख रहा है।

५. [1]प्रकल्प्य यन्नास्तिकतादिवादमेवं प्रमादं परिशीलयन्तः।
मग्ना निगोदादिषु दोषदग्धाः दुरन्तदुःखानि हहा! सहन्ते।।

खेद है! मनुष्य नास्तिकता आदि वादों की प्रकल्पना कर और इसी प्रकार प्रमाद का आचरण करते हुए निगोद आदि में डूब जाते हैं। उन दोषों से दग्ध होकर वे अन्तहीन कष्टों को सहते हैं।

६. [1]शृण्वन्ति ये नैव हितोपदेशं, न धर्मलेशं मनसा स्मरन्ति।
रुजः कथंकारमथाऽपनेयास्तेषामुपायस्त्वयमेक एव।।

जो मनुष्य हितोपदेश को सुनते ही नहीं और न धर्म के लेश का भी मन से स्पर्श करते हैं, उनके मानसिक और भावनात्मक रोग कैसे दूर किए जा सकते हैं? जबकि उन रोगों को दूर करने का एकमात्र उपाय है—हितोपदेश का श्रवण और धर्म का आचरण।

---

१. स्रग्धरा। २. पद्र इति ग्रामः। ३-५. उपजाति।

७. [१]परदुःखप्रतीकारमेवं ध्यायन्ति ये हृदि।
लभन्ते निर्विकारं ते, सुखमायति[२]सुन्दरम्।।

दूसरों के दुःखों का प्रतिकार करने के लिए जो लोग अन्तःकरण में इस प्रकार का चिन्तन करते हैं, वे निर्विकार (शाश्वत), भविष्य में कल्याणकारी सुख को प्राप्त करते हैं।

गीतिका १५ : रामकुलीरागेण गीयते–

सुजना! भजत मुदा भगवन्तं, सुजना! भजत मुदा भगवन्तम्।
शरणागतजनमिह निष्कारणकरुणावन्तमवन्तं रे।।१।।

हे सज्जनो! तुम प्रसन्नता से भगवान् की सेवा करो, जो शरण में आए हुए मनुष्यों की रक्षा करने वाला और अपेक्षामुक्त होकर करुणावान् है।

क्षणमुपधाय मनः स्थिरतायां, पिबत जिनागमसारम्।
कापथघटनाविकृतविचारं त्यजत कृतान्तमसारं रे!।।२।।

तुम क्षणभर के लिए मन को स्थिरता में स्थापित कर जिनभगवान् द्वारा प्रतिपादित आगमसार का पान करो और कुपथ की ओर ले जाने वाली घटनाओं से विकृत विचार वाले सारहीन सिद्धान्तों को छोड़ो।

परिहरणीयो गुरुरविवेकी भ्रमयति यो मतिमन्दम्।
सुगुरुवचः सकृदपि परिपीतं, प्रथयति परमानन्दं रे!।।३।।

जो मन्दबुद्धि वाले मनुष्यों को भटकाता है वह अविवेकी गुरु छोड़ने योग्य होता है। सुगुरु का एक बार भी एकाग्रता से सुना हुआ वचन परम आनन्द का विस्तार करता है।

कुमततमोभरमीलितनयनं, किमु पृच्छत पन्थानम्।
दधिबुद्ध्या नर! जलमन्थन्यां, किमु निदधत मन्थानं रे!।।४।।

जिसके नेत्र कुमतरूपी अन्धकार से मुंदे हुए हैं उससे तुम क्या मार्ग पूछते हो? हे मनुष्य! पानी से भरी गगरी को तुम दही से भरी हुई मानकर क्यों उसमें मथनी रख रहे हो, घुमा रहे हो?

---

१. अनुष्टुप्। २. 'आयतिस्तूत्तरः कालः' (अभि. २/७६)।

अनिरुद्धं मन एव जनानां, जनयति विविधातङ्कम्।
सपदि सुखानि तदेव विधत्ते, आत्माराममशङ्कं रे!।।५।।

मनुष्यों का अनियन्त्रित मन ही अनेक आतंकों—भय और भयंकर रोगों को उत्पन्न करता है। वही जब आत्माराम—अपने आपमें रमण करने वाला होता है तो वह निस्संदेह तत्काल सुखों को देने वाला हो जाता है।

परिहरताश्रवविकथागौरव[1]-मदनमनादिवयस्यम्।
क्रियतां सांवरसाप्तपदीनं[2], ध्रुवमिदमेव रहस्यं रे!।।६।।

आस्रव, विकथा, गौरव और कामभावना—ये अनादिकाल से तुम्हारे साथी बने हुए हैं। उनका तुम त्याग करो, संवर को मित्र बनाओ, यही शाश्वत रहस्य है।

सह्यत इह किं भवकान्तारे, गदनिकुरम्बमपारम्।
अनुसरताऽऽहितजगदुपकारं, जिनपतिमगदङ्कारं रे!।।७।।

इस संसार-अरण्य में तुम अपार व्याधि-समूह को कैसे सहन कर रहे हो? जिनेश्वर वैद्य का तुम अनुसरण करो, जो जगत् का कल्याण करने वाले हैं।

शृणुतैकं विनयोदितवचनं, नियताऽऽयतिहितरचनम्।
रचयत[3] सुकृतसुखशतसंधानं, शान्तसुधारसपानं रे!।।८।।

तुम केवल विनय के द्वारा प्रतिपादित वचन को सुनो, जो निश्चित ही भविष्य में हितकारी है तथा सैकड़ों सुकृत और सुख का संधान करने वाले शान्तसुधारस का पान करो।

---

१. पांच प्रकार का आस्रव—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। चार प्रकार की विकथा—स्त्री, भक्त, देश और राज। तीन प्रकार का गौरव—ऋद्धि, रस और साता। २. 'सौहार्दं साप्तपदीन...' (अभि. ३/३९५)। ३. जो धातुएं चुरादिगण की हैं वे भ्वादिगण की हैं, इसलिए यहां 'रचत' क्रियारूप लय की दृष्टि से उचित है।

१६. संकेतिका

तराजू के दो पलड़े होते हैं। यदि दोनों का संतुलन होता है तो वस्तुमापक सूई मध्य में अवस्थित हो जाती है। यदि सन्तुलन नहीं होता है तो वस्तुमापक सूई भारी वस्तु की ओर झुक जाती है। मनुष्य की भी यही स्थिति है। कभी मनुष्य की चेतना प्रियता के कारण प्रियजनों की ओर झुक जाती है तो कभी अप्रियता के कारण अप्रियजनों की ओर चली जाती है। मनुष्य में प्रियता का भाव भी विद्यमान है और अप्रियता का भाव भी। उसकी एक आंख राग के अंजन से अंजी हुई है तो दूसरी आंख द्वेष के अंजन से अंजी हुई है। कभी वह अनुराग की दृष्टि से किसी को देखता है तो कभी विराग की दृष्टि से देखता है। किन्तु एक तीसरी आंख भी है वह है मध्यस्थता की आंख।

योग में तृतीय नेत्र का बहुत महत्त्व है, किन्तु व्यवहारजगत् में व्यवहार को चलाने के लिए तीसरा नेत्र है—माध्यस्थ्य अनुप्रेक्षा। इसका अपना महत्त्व है। संघर्ष का उत्स है—पक्षपात। जहां पक्षपात होता है वहां वैषम्य होता है, शोषण होता है। देश में जितनी रक्तक्रान्तियां हुईं, उनमें एक मुख्य कारण यह भी रहा। मानवजाति ने सदा ही न्याय की वांछा की। जब-जब मनुष्य को कोई न्याय नहीं मिला तब-तब उसे अत्याचार, अमानुषिकता, गरीबी और बेरोजगारी का शिकार होना पड़ा। इसलिए सारा न्याय-शास्त्र भावना के आधार पर विकासशील बना। बड़े-बड़े प्रबुद्ध-चिन्तकों ने इस न्याय के आधार पर ही मानवीय एकता को सुरक्षित रखा। जहां राग की चेतना कार्य करती है, वहां न्याय नहीं होता। जहां द्वेष की चेतना काम करती है, वहां न्याय नहीं होता। न्याय वहां होता है जहां न राग है और न द्वेष है, केवल तटस्थता है। तटस्थ व्यक्ति वह होता है जो केवल जानता है, देखता है, प्रियता और अप्रियता का संवेदन नहीं करता।

कोई व्यक्ति उन्मार्ग की ओर जाता है। उसे सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करना अपना कर्त्तव्य है, किन्तु बलपूर्वक किसी को सन्मार्ग पर नहीं लाया जा

सकता। कोई व्यक्ति हितकर उपदेश को भी नहीं सुनना चाहता। उसका हृदय परिवर्तन कर उसे समझाना ही तटस्थ व्यक्ति का काम हो सकता है, किन्तु उस पर क्रोध करना, उसके विषय में चिन्ता करना अपने ही सुख का लोप करना है। प्रायः मनुष्य अपने ही राग-द्वेष के कारण अपना मानसिक संतुलन खोता है। दूसरा क्या करता है, इसकी चिन्ता किए बिना मैं क्या करता हूं, इसका चिन्तन होना अति आवश्यक है। इसका एकमात्र अवलम्बन है—माध्यस्थ्य अनुप्रेक्षा। भगवान् महावीर ने कहा—**'मज्झत्थो णिज्जरापेही'** (आयारो, ८/८/५)—जो मध्यस्थ होता है वही वीतरागता की साधना कर सकता है, समता में रमण कर सकता है। जिसने ऐसा अभ्यास किया उसने फलरूप में पाया—

- **मानसिक शान्ति।**
- **जीवन की समस्याओं का समाधान।**
- **अनावश्यक चिन्ता से मुक्ति।**

माध्यस्थ्य भावना

१. [1]श्रान्ता यस्मिन् विश्रमं संश्रयन्ते,
रुग्णाः प्रीतिं यत्समासाद्य सद्यः।
लभ्यं रागद्वेषविद्वेषिरोधा-
दौदासीन्यं सर्वदा तत्प्रियं नः।।

थके हुए मनुष्य जिसमें विश्राम पाते हैं और रुग्ण व्यक्ति जिसे पाकर तत्काल प्रीति का अनुभव करते हैं, वह औदासीन्य (माध्यस्थ्य भावना) हमें सदा प्रिय है, जो रागद्वेषरूपी शत्रुओं के निरोध से उपलब्ध होता है।

२. [2]लोके लोका भिन्नभिन्नस्वरूपाः,
भिन्नैर्भिन्नैः कर्मभिर्मर्मभिद्भिः।
रम्याऽरम्यैश्चेष्टितैः कस्य कस्य,
तद्विद्वद्भिः तुष्यते रुष्यते वा।।

इस लोक में भिन्न-भिन्न स्वरूपवाले लोग हैं। वे अपने मर्मभेदी भिन्न-भिन्न कर्मों के द्वारा प्रेरित होकर रमणीय और अरमणीय चेष्टाएं कर रहे हैं, फिर विद्वान् आदमी किस-किस की चेष्टा से तुष्ट और रुष्ट होंगे।

३. [3]मिथ्या शंसन् वीरतीर्थेश्वरेण,
रोद्धुं शेके न स्वशिष्यो [4]जमालिः।
अन्यः को वा रोत्स्यते केन पापात्,
तस्मादौदासीन्यमेवात्मनीनम्[5]।।

मिथ्या प्ररूपणा करने वाले शिष्य जमालि को तीर्थंकर महावीर नहीं रोक

१-३. शालिनी। ४. देखें–परिशिष्ट (२) में 'सांकेतिक कथाएं'। ५. आत्मने हितं–'भोगान्तात्मभ्यामीनः' (भिक्षु. ७/३/४०) इत्यनेन ईनः।

सके, तो फिर अन्य कौन किसे पाप (मिथ्या-आग्रह) से रोक पाएगा? अतः औदासीन्य—माध्यस्थ्य भावना ही आत्मा के लिए हितकर है।

४. [1]**अर्हन्तोऽपि [2]प्राज्यशक्तिस्पृशः किं,**
धर्मोद्योगं कारयेयुः प्रसह्य?
दद्युः शुद्धं किन्तु धर्मोपदेशं,
यत्कुर्वाणा दुस्तरं निस्तरन्ति।।

प्रचुर शक्ति-सम्पन्न अर्हत् भी क्या बलपूर्वक किसी दूसरे से धर्म का अभ्यास करा सकते हैं? किन्तु वे शुद्ध धर्म का उपदेश देते हैं। उसका आचरण करते हुए मनुष्य दुस्तर भव-समुद्र का पार पा जाते हैं।

५. [3]**तस्मादौदासीन्यपीयूषसारं,**
वारं वारं हन्त! सन्तो! लिहन्तु।
आनन्दानामुत्तरङ्गैस्तरङ्गै-
र्जीवद्भिर्यद् भुज्यते मुक्तिसौख्यम्।।

अतः हे सत्पुरुषो! तुम औदासीन्यरूपी अमृतसार का बार-बार आस्वादन करो, जिससे कि जीते जी मनुष्य आनन्द की उत्ताल तरंगों से मुक्तिसुख का अनुभव कर सकें।

गीतिका १६ : प्रभातीरागेण गीयते—

अनुभव विनय! सदासुखमनुभव औदासीन्यमुदारं रे!।
कुशलसमागममागमसारं, कामितफलमन्दारं रे!।।१।।

हे विनय! तू अनुभव कर, निरन्तर सुख देने वाले उदार औदासीन्य का अनुभव कर, जो कल्याण का समागम (प्राप्ति) करने वाला, आगम का सार और इच्छित फल के लिए कल्पवृक्ष-तुल्य है।

परिहर परचिन्तापरिवारं, चिन्तय [4]निजमधिकारं रे!।
तव [5]किं कोऽपि चिनोति करीरं, चिनुतेऽन्यः सहकारं रे।।२।।

---

१. शालिनी। २. प्रभूतां शक्तिं स्पृशति इति विग्रहे कृते 'स्पृशोऽनुदके' (भिक्षु. ५/२/८०) इति सूत्रेण स्पृशेः क्विप्प्रत्ययः। ३. शालिनी। ४. निजमविकारमित्यपि पाठः। ५. तव किं इति स्थाने वदति इत्यपि पाठ उपलभ्यते।

तू दूसरों की चिन्ता के वलय को छोड़, अपने अधिकार का चिन्तन कर। तुझे क्या, कोई मनुष्य कैर चुनता है और कोई आम।

योऽपि न सहते हितमुपदेशं, तदुपरि मा कुरु कोपं रे!
निष्फलया किं परजनतप्त्या, कुरुषे निजसुखलोपं रे!।।३।।

जो व्यक्ति हितकर उपदेश को भी सहन नहीं करता, उस पर तू क्रोध मत कर। तू बिना मतलब दूसरे के विषय में चिन्ता कर अपने सुख का लोप क्यों कर रहा है?

सूत्रमपास्य जडा भाषन्ते, केचन मतमुत्सूत्रं रे!।
किं कुर्मस्ते परिहृतपयसो, यदि पीयन्ते मूत्रं रे!।।४।।

कुछ मूर्ख लोग आगम को छोड़कर आगम-विरोधी मत का निरूपण करते हैं। उनका हम क्या करें, यदि वे दूध को छोड़कर मूत्र पीते हैं।

पश्यसि किं न मनःपरिणामं, निजनिजगत्यनुसारं रे!।
येन जनेन यथा भवितव्यं, तद् भवता दुर्वारं रे!।।५।।

तू अपनी-अपनी गति (जन्मान्तर-स्थान की प्राप्ति) के अनुसार होने वाले मन के परिणाम को क्यों नहीं देखता? जिस मनुष्य को जैसा होना है उसे रोकना तेरे लिए शक्य नहीं है।

रमय हृदा हृदयंगमसमतां, संवृणु मायाजालं रे!।
वृथा वहसि पुद्गलपरवशतामायुः परिमितकालं रे!।।६।।

तू अन्तःकरण से हृदय को छूने वाली समता में रमण कर, मायाजाल का संवरण कर। तू व्यर्थ पुद्गल की परतंत्रता का भार ढो रहा है, जबकि तेरा आयुकाल सीमित है।

अनुपमतीर्थमिदं स्मर चेतन-मन्तःस्थितमभिरामं रे!।
चिरंजीव! विशदपरिणामं, लभसे सुखमविरामं रे!।।७।।

हे आयुष्मन्! तू चेतनरूप इस अनुपम तीर्थ का स्मरण कर, जो तेरे भीतर में स्थित है और रमणीय है, जिससे तू विशद परिणाम वाले अविराम (अन्तहीन) सुख को प्राप्त हो सके।

परब्रह्मपरिणामनिदानं, स्फुटकेवलविज्ञानं रे!।
विरचय विनय! विवेचितगानं, शान्तसुधारसपानं रे!।।८।।

हे विनय! तू शान्तसुधारस का पान कर, जो परमब्रह्म (शुद्ध चैतन्यमय) की परिणति का हेतु है, जो स्पष्ट केवल (संवेदनरहित) ज्ञानमय है, जिसमें विवेचित-संगान—यथार्थ और अयथार्थ ज्ञेय वस्तु का पृथक्करण है।

प्रशस्तिश्लोकाः

१. [1]एवं सद्भावनाभिः सुरभितहृदयाः संशयाऽतीतगीतो-
न्नीतस्फीतात्मतत्त्वास्त्वरितमपसरन्मोहनिद्राममत्वाः ।
सत्त्वा गत्वाऽममत्वाऽतिशयमनुपमां चक्रिशक्राधिकानां,
सौख्यानां मङ्क्षु लक्ष्मीं परिचितविनयाः स्फारकीर्तिं श्रयन्ते।।

इस प्रकार जिनका हृदय सद्भावनाओं से सुरभित है, जो संशय से अतीत, सुकीर्त्तित, समुन्नति प्राप्त और समृद्ध आत्मतत्त्व वाले हैं, जिन्होंने शीघ्र गति से मोहरूपी निद्रा और ममत्व को दूर किया है, जो निर्ममत्व की विशिष्टता प्राप्त कर चुके हैं, जो विनय के गुणों से परिचित हैं, वे मनुष्य चक्रवर्ती और इन्द्र से अधिक सुखों की अनुपम लक्ष्मी तथा विशालकीर्ति को शीघ्र प्राप्त होते हैं।

२. [2]दुर्ध्यानप्रेतपीडा प्रभवति न मनाक् काचिदद्वन्द्वसौख्य-
स्फातिः प्रीणाति चित्तं प्रसरति परितः सौख्यसौहित्यसिन्धुः।
क्षीयन्ते रागरोषप्रभृतिरिपुभटाः सिद्धिसाम्राज्यलक्ष्मीः,
स्याद् वश्या यन्महिम्ना विनयशुचिधियो भावनास्ताः श्रयध्वम्।।

विनय से पवित्र बुद्धिवाले हे प्राणियो! तुम उन भावनाओं का आश्रय लो जिनकी महिमा से दुर्ध्यान (आर्त्तरौद्र ध्यान) रूपी प्रेत की किंचित्मात्र कोई पीड़ा नहीं सताती, द्वन्द्वातीत सुख की समृद्धि चित्त को तृप्त करती है, सुख की तृप्ति का सिन्धु उसके चारों ओर व्याप्त होता है, राग-द्वेष आदि शत्रुसैनिक नष्ट हो जाते हैं और मोक्षसाम्राज्य की लक्ष्मी अधीन हो जाती है।

३. [3]श्रीहीरविजयसूरीश्वरशिष्यौ, सोदरावभूतां द्वौ।
श्रीसोमविजयवाचक-वाचकवरकीर्तिविजयाख्यौ।।

१-२. स्रग्धरा। ३. पथ्या।

श्रीहीरविजयसूरी के दो शिष्य थे। वे दोनों सगे भाई थे, उनके नाम थे—वाचक श्रीसोमविजय और वाचक श्रीकीर्तिविजय।

४ [१]**तत्र च कीर्तिविजयवाचकशिष्योपाध्यायविनयविजयेन।**
शान्तसुधारसनामा, संदृब्धो भावनाप्रबन्धोऽयम्।।

उसमें कीर्तिविजयवाचक के शिष्य उपाध्याय विनयविजय ने शान्तसुधारस नाम का यह भावना-प्रबन्ध गुम्फित किया।

५. [२]**शिखिनयनसिन्धुशशिमितवर्षे हर्षेण गंधपुरनगरे।**
श्रीविजयप्रभसूरिप्रसादतो यत्न एष सफलोऽभूत्।।

विक्रम संवत् १७२३ गन्धपुर नगर में श्रीविजयप्रभसूरी के प्रसाद से प्रसन्नतापूर्वक यह प्रयत्न सफल हुआ।

६. [३]**यथा विधुः षोडशभिः कलाभिः, संपूर्णतामेत्य जगत् पुनीते।**
ग्रन्थस्तथा षोडशभिः प्रकाशैरयं समग्रैः शिवमातनोतु।।

जिस प्रकार चन्द्रमा सोलह कलाओं के द्वारा सम्पूर्णता को प्राप्त कर जगत् को पवित्र करता है—प्रकाशित करता है उसी प्रकार यह ग्रन्थ समग्र सोलह प्रकाशों से कल्याण का विस्तार करे।

७. [४]**यावज्जगत्येष सहस्रभानुः, पीयूषभानुश्च सदोदयेते।**
तावत्सतामेतदपि प्रमोदं, ज्योतिःस्फुरद्वाङ्मयमातनोतु।।

जब तक जगत् में यह सूर्य और चन्द्रमा सदा उदित रहे, तब तक ज्योति से विलसित यह शान्तसुधारस ग्रन्थ भी सत्पुरुषों के मन में प्रमोद का विस्तार करे।

१-२. गीति। ३. उपजाति। ४. इन्द्रवज्रा।

परिशिष्ट

१. भावनाबोधक कथाएं

२. सांकेतिक कथाएं

३. पारिभाषिक शब्द

अनित्य भावना

१. सब कुछ अनित्य है

महाराज श्रेणिक का प्रीतिपात्र रथिक नाग आज उदास-उदास-सा लग रहा था। उसकी अन्तर्व्यथा भीतर ही भीतर घुटन उत्पन्न कर रही थी। उसके जीवन में न कोई राग था और न कोई सुख। जीवन की खुशियां पतझड़ बन चुकी थीं। आमोद-प्रमोद मानसिक संताप से काफूर हो चुका था। घर में सब कुछ होते हुए भी एक ही अभाव उसे बार-बार खटक रहा था। सूना-सूना घर आज उसे खाने दौड़ रहा था। भावी की चिन्ता निरन्तर सताए जा रही थी। न खाने में रस था, न पीने में। न पहनने में रस था, न अन्य किसी वस्तु में। सारा जीवन एक अभाव के कारण नीरस-सा अनुभव हो रहा था। न जाने सूने घर को भरने के लिए कितने कुलदेवताओं की मनौतियां मनाई गईं। मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोनों को काम में लिया गया। मन्दिरों की फेरियां दी गईं। किन्तु वे सब प्रयत्न आज अर्थ-शून्य और निष्फल सिद्ध हो रहे थे। आखिर भवितव्यता को टाला भी कैसे जा सकता है? नाग रथिक आज कार्य से शीघ्र निवृत्त होकर अपने घर में किंकर्त्तव्यविमूढ़ बना बैठा था।

पत्नी सुलसा ने उसकी व्यथा को भांपते हुए पूछा—प्रियदेव! आजकल आपको क्या हो गया है? आप उदास नजर आ रहे हैं। खाना-पीना आपको सुहाता नहीं। मनोज्ञ पदार्थ रुचिकर लगते नहीं। और तो क्या? बात करना भी आपको पसन्द नहीं। आखिर कारण है क्या? क्या सम्राट् श्रेणिक ने आपको कुछ कह दिया है? क्या शरीर से आप रुग्ण हैं या कोई अन्य विपत्ति आपके सामने हैं, जिसके कारण आप अन्यमनस्क दिखाई दे रहे हैं।

प्रिये! मैं क्या बताऊं, तुमसे छिपा ही क्या है, फिर घाव पर नमक छिड़ककर मुझे दुःखी करना कौन-सी दक्षता है? तुम्हारी यह सूनी-सूनी गोद मेरे अन्तःकरण को कचोट रही है। यह सूना-सूना आंगन मुझे रुला रहा है। वे

लोग कितने भाग्यशाली हैं जिनका आंगन बच्चों की क्रीड़ा से रमणीय है। वे माता-पिता कितने सुखी हैं जिनकी गोद सन्तान से भरी रहती है। आज ही मैं कार्यवश किसी धनिक के घर गया था। वहां क्रीड़ारत नन्हे-मुन्ने बच्चों को देखकर सहसा मेरा अन्तःकरण विह्वल हो उठा। कोई उन्हें लाड़-प्यार से खिला रहा था तो कोई उनके साथ आमोद-प्रमोद कर रहा था। सारा घर बच्चों की किलकारियों, मधु-मुस्कान और मधुर क्रीड़ा से मधुरमय बना हुआ था। वह दृश्य सचमुच कितना सुखद और लुभावना था! काश! आज यदि मैं तुम्हारी सूनी गोद को हरी-भरी देखता और अपने गृह-प्रांगण में क्रीड़ा करते हुए अपनी सन्तान को पाता तो शायद न तुम्हें कहने का अवसर आता और न ही मेरी प्रसन्नता भंग होती।

पतिदेव! लगता है आज आप बहकी-बहकी बातें कर रहे हैं। हम भगवान महावीर के अनुयायी हैं, श्रमणोपासक हैं, जैन धर्म में हमारा विश्वास है और हम कर्मसिद्धान्त को मानने वाले हैं, फिर सन्तान को प्राप्त करना क्या हमारे हाथ की बात है? इतना कुछ करने पर भी यदि हमारी मनोभावना सफल नहीं होती है तो इसे कोई अशुभ योग ही मानना चाहिए। यदि कुछ होने का होता तो आज तक हो ही जाता, फिर क्यों आपका देवी-देवताओं को मनाने का प्रयत्न विफल जाता? इसलिए हमें अन्यान्य उपायों को छोड़कर निर्ग्रन्थ प्रवचन की आराधना करनी चाहिए। जिस दिन शुभ का योग होगा, स्वतः ही सब कुछ मिल जाएगा, फिर न हमें खिन्न होने की आवश्यकता है और न ही देवी-देवताओं को मनाने की। क्या हम एक अभाव के कारण अपनी रही-सही खुशियों को भी छोड़ दें, घर के कार्य को चौपट कर दें और इतने अधीर हो जाएं? यह अपने आपमें कोई बुद्धिमत्ता और समझदारी नहीं है। अतः आप व्यर्थ की बातें छोड़कर यथार्थता का अनुभव करें। भोजन का समय है, अतः मस्तिष्क को उलझनों से मुक्त रखकर भोजन के लिए चलें।

सुलसा की सहानुभूति और यथार्थ वचनों से नागरथिक कुछ सान्त्वना का अनुभव कर रहा था। उसका भारी मन उसकी प्रेरणा से हल्का हुआ। वह भोजन के लिए उठा और सुलसा के साथ रसोईघर की ओर चल दिया। सहसा पीछे से कानों में एक आवाज सुनाई दी। मुड़कर देखा तो एक महामुनि मुख्य द्वार से प्रविष्ट होकर उन्हीं की ओर आ रहे थे। वे महामुनि ब्रह्मचर्य के तेज से देदीप्यमान थे। वे प्रणतदृष्टि से धीरे-धीरे चल रहे थे। उनके अंग-प्रत्यंग में सौकुमार्य तथा लावण्य टपक रहा था। महामुनि को देखकर सुलसा हर्षोत्फुल्ल

हो उठी। उसने विधियुत् वन्दन करते हुए कहा—प्रभो! मैं आज कृतपुण्या और धन्या हूं कि आप जैसे महामनस्वी ने अपने चरणरजों से मेरे आंगन को पवित्र किया है। मेरे घर में भिक्षा पूर्णरूपेण प्रासुक और कल्पनीय है, कृपाकर आप उसे ग्रहण करें। महामुनि ने हंसते हुए कहा—बहिन! अभी मैं भिक्षा के लिए के लिए नहीं आया हूं। मुनि बीमार हैं, उनके लिए लक्षपाक तैल की आवश्यकता है, उसकी गवेषणा करने के लिए ही मैं निकला हूं। क्या तुम्हारे घर में वह तैल है? सुलसा ने भाव-विभोर होते हुए कहा—मुनिवर! वह तैल मेरे घर में उपलब्ध है। वह बिल्कुल शुद्ध और कल्पनीय है। इससे अधिक स्वर्णिम अवसर ही क्या हो सकता है कि मेरे घर की वह औषधि किसी मुनि के काम आए और वे रुग्ण मुनि स्वस्थ होकर अपनी संयम-यात्रा का निर्वाह करें। अतः आप कृपा करें और तैल ग्रहण कर मुझे सुपात्रदान का लाभ दें। महामुनि ने उसकी उत्कट और विशुद्ध भावना को जानकर तैल लेने की इच्छा प्रकट की। सुलसा प्रसन्नमना होती हुई शीघ्रता से कमरे में गई और तैल लाने के लिए तैल का घड़ा उठाया। अकस्मात् वह हाथ से फिसला और नीचे गिरकर फूट गया। सारा तैल भूमि पर इधर-उधर बिखरकर बह गया। सुलसा ने मन ही मन सोचा—खैर! एक ही घड़ा फूटा है, अभी तैल के दो बर्तन और शेष हैं, उनसे ही मुनि का काम चल जाएगा। दूसरे घड़े को उठाकर सुलसा ने ज्योंही मुनि के सामने आने के लिए चरण बढ़ाया, वह भी सहसा बीच में ही हाथ से छूट गया और सारा तैल जमीन पर बिखर गया। अब केवल तैल का एक ही बर्तन बचा था। सुलसा के मन में भय था कि कहीं दो घड़ों की भांति यह भी हाथ से फिसल न जाए, इसलिए अपनी पूरी सावधानी रखने पर भी ठीक वह घड़ा मुनि के सामने फूटकर चकनाचूर हो गया। सारा तैल इतस्ततः बिखर गया। इतना होने पर भी सुलसा के चेहरे पर न कोई शोक था तो न कोई संताप। न कोई उदासीनता थी, न कोई निराशा। न किसी प्रकार का दुःख था, न वस्तु के विनष्ट होने की चिन्ता। महामुनि ने उसकी मनःस्थिति को जानने के लिए पूछा—बहिन! लगता है कि तुम्हें कुछ दुःख तो हुआ होगा। यदि मैं यहां नहीं आता तो यह घटना क्यों घटती? न घड़ा फूटता और न यह तैल व्यर्थ जाता। यह सब मेरे निमित्त से ही हुआ है।

महाराज! घड़ा फूटने और तैल व्यर्थ जाने का मुझे किंचित् भी दुःख नहीं है। यह तो पदार्थ की प्रकृति है। जिसका संयोग होता है निश्चित ही उसका वियोग होता है। जो आता है वह जाता है, फिर उसमें दुःख करना क्या मूढता

नहीं है? जड़ और चेतना सभी पदार्थ समुद्र की लहरों की भांति उत्पन्न होते हैं और विनष्ट हो जाते हैं। अनुत्तर विमान के सुख कालक्रम से व्यतीत हो जाते हैं। अपने साथ मिलने वाले प्रियजन भी सहसा हमें छोड़कर बिछुड़ जाते हैं, फिर घड़े का फूटना कौन-सी बड़ी बात है! इस जगत् में सभी पौद्गलिक पदार्थ अनित्य हैं। मुझे दुःख है तो केवल एक ही बात का है कि आपने यहां आने का कष्ट भी किया, किन्तु घर में वस्तु की उपलब्धि होने पर भी वह आपके काम न आ सकी।

महामुनि ने तत्काल अपना रूप परिवर्तित करते हुए देवरूप में प्रकट होकर कहा—'बहिन! तुम्हें धन्य है कि तुमने अपने समत्व के कारण प्रतिकूलता को भी अनुकूल बना लिया है। अनित्य अनुप्रेक्षा के बिना ऐसा होना संभव नहीं है। अनित्य अनुप्रेक्षा की वेदी पर ही समत्व का दीपक प्रज्वलित होता है और विषमता की आग में जलकर ही समता में निखार आता है। वस्तुतः तुम्हारी अनासक्ति और ममत्व का विलय स्तुत्य और प्रशंसनीय है। तुम अपनी परीक्षा में पूर्णतः उत्तीर्ण हो। मैंने जैसा शक्रेन्द्र के मुख से तुम्हारा परिचय सुना था उसी के अनुरूप मैंने तुम्हें पाया है। कष्ट के लिए क्षमा। तुम्हारी परीक्षा के लिए ही मैंने यह सारा प्रपंच रचा था। मैं तुम्हारे इस गुण पर बहुत-बहुत प्रसन्न हूं, तुम जो चाहो वरदान मांग लो। मैं तुम्हारी प्रत्येक कामना को पूरा करने का प्रयत्न करूंगा।'

सुलसा ने हंसते हुए कहा—देवानुप्रिय! मेरे घर में किसी भी प्रकार की कमी नहीं है। मैं धन-वैभव, सुख-समृद्धि आदि से संपन्न हूं। यदि कोई कमी है तो वह आपसे क्या छिपी हुई है? संभव है आप उसे पूरा कर सकें, पर वह भी आपके वश की बात कहां है? जब तक मेरे शुभ का संयोग नहीं होगा तब तक वह मनोरथ कैसे पूरा हो पाएगा?

बहिन! तुम्हारा कथन सत्य है। तुम्हारा भाग्य ही तुम्हारे काम आएगा, किन्तु मेरा पुरुषार्थ भी तो तुम्हारे कार्य में यत्किंचित् सहभागी बन सकता है। मैं तुमको बत्तीस गोलियां देता हूं। प्रतिदिन एक-एक कर तुम इनका आसेवन करना। यथासमय तुम्हारी कुक्षि से बत्तीस पुत्ररत्न उत्पन्न होंगे। जब भी किसी परिस्थिति में तुम्हें मेरी आवश्यकता हो, मुझे स्मरण कर लेना। इतना कहकर देव अन्तर्धान हो गया।

सुलसा ने मन ही मन चिन्तन किया कि बत्तीस पुत्रों से अच्छा है कि कोई बत्तीस लक्षणों वाला सुयोग्य और विनीत एक ही पुत्र मेरी कुक्षि से जन्म

ले। ऐसा सोचकर उसने सारी गोलियां एक साथ आसेवन कर लीं। कुछ समय बीता कि गोलियों ने अपना प्रभाव दिखाना प्रारम्भ किया। बत्तीस गर्भ एक साथ ही उदर में आ गए। आखिर पेट तो पेट ही था, उसमें इतने अधिक जीव कैसे समा सकते थे? भयंकर और असह्य वेदना से सुलसा के दिन बीतने लगे। मंगल में अमंगल घटित होने लगा। संजोई हुई सुनहली आशाएं धूमिल होने लगीं। देव ने सुलसा की इस भयंकर वेदना और विकट परिस्थिति को देखा और पुनः उसकी सेवा में उपस्थित हो गया। उसने सुलसा से कहा—बहिन! तुमने ऐसी भयंकर भूल की है कि जो तुम्हें नहीं करनी चाहिए थी। खैर! जो कुछ हुआ अब उसके अनुताप से क्या? फिर भी मैं अपनी लब्धि से जितना कष्ट दूर कर सकता हूं, करूंगा ही। तुम निश्चिन्त रहो, निश्चित समय आने पर तुम्हारी मनोकामना सफल होगी। तुम्हारी कुक्षि से बत्तीस पुत्र उत्पन्न होंगे। यदि उनमें से एक का भी वियोग हो गया तो सभी का वियोग होना निश्चित है। इस संभावना को कोई नहीं टाल सकता।

देववचनों से सुलसा को कुछ संबल मिला और दैवयोग से उसके गर्भाधान की कष्टानुभूति भी कम हुई। गर्भ की अवधि पूरी होने पर सुलसा ने बत्तीस पुत्रों को जन्म दिया। सभी पुत्र आकार-प्रकार में एक समान और रूपवान् थे। उनके अंग-अंग में सुकुमारता, सहजता और बाल-सुलभ क्रीड़ाएं अठखेलियां कर रही थीं। नागरथिक की चिरकांक्षित अभिलाषा साक्षात् उसके आंगन में क्रीड़ा कर रही थी। मनमयूर अपने घर में सावन को देखकर नाच रहा था। घर का सारा वातावरण ही मानो कुछ नया-नया-सा नजर आ रहा था। सूना-सूना वह आंगन आज कितना सुनहला लग रहा था! घर की वह नन्हीं बगिया मानो बत्तीस कमलों को पाकर हंस रही थी। नागरथिक ने आज भावी जीवन की जितनी कल्पनाओं को संजोया, शायद उतनी कल्पनाएं उसने अतीत में कभी नहीं संजोई। जब भी वह अपने आंगन में बच्चों को क्रीड़ा करते हुए देखता तो सहसा उसका अन्तःकरण मोद से भर जाता। उसका जीवन पतझड़ को पारकर पुनः वसन्तोत्सव मना रहा था।

बत्तीस ही कुमार बड़े हुए। उनको कला, शिक्षा आदि बहुविध कलाओं से पारंगत किया गया। अल्पसमय में ही उन्होंने सभी कलाओं को सीखकर अपने-अपने कार्य में प्रवीणता और दक्षता प्राप्त की और यौवन की दहलीज को पार कर प्रणयसूत्र में बंध गए। महाराज श्रेणिक ने उन सबको अपने

अंगरक्षक के रूप में नियुक्त कर लिया। वे सभी युद्ध-कला में प्रवीण और कर्त्तव्यपरायण थे।

एक बार नृपति श्रेणिक वैशाली के अधिपति चेटक की पुत्री सुज्येष्ठा पर आसक्त हो गया। उसने येन-केन प्रकारेण उसका अपहरण करना चाहा। कुमार अभय ने एक गुप्त योजना बनाकर मायाजाल रचा और वह अपनी योजना में सफल भी हो गया। सम्राट् श्रेणिक योजना को क्रियान्वित कर पुनः राजगृह आ रहा था कि सहसा वैशाली के राजा ने पीछे से आक्रमण कर दिया। बत्तीस ही अंगरक्षकों ने उसके मार्ग को रोककर सामना किया। भयंकर युद्ध हुआ। राजा श्रेणिक सकुशल महलों में पहुंच गया, किन्तु बत्तीस ही कुमार उस युद्ध में काम आ गए।

एक ओर राजा श्रेणिक को सकुशल पहुंचने की प्रसन्नता थी तो दूसरी ओर अपने अंगरक्षकों के मारे जाने का शोक भी था।

सुलसा ने जब इस सारी घटना को सुना तो सहसा उसका मातृ-हृदय रो उठा। आंखों में आंसू और अन्तर् में वेदना होने पर भी उसकी मनःस्थिति समतारस से आप्लावित थी। मानस पर एक गहरा वज्राघात अवश्य हुआ, फिर भी उसने अपना संतुलन नहीं खोया। उसका चिरपालित मनोरथ, जो दैवयोग से पूरा हुआ था, वह भी खण्ड-खण्ड होकर बिखर गया। जो गोद कितनी प्रतीक्षा के बाद पूरित हुई वही पुनः रिक्त हो गई। किसने जाना था इस नियति के योग को? किसने समझा था इस क्रूरकाल के चक्र को? कुछ समय पूर्व जो फूल डाली पर खिले थे वे सब आज देखते-देखते ही कुम्हला गए। नागरथिक का भरा-भरा आंगन आज एक साथ ही खाली हो गया। बत्तीस-बत्तीस पुत्रों का यौवन के प्रथम चरण में ही एक साथ चले जाना वस्तुतः एक दुःखद घटना थी। कहां तो मां की ममता और कहां यह हृदयद्रावक दृश्य। सुलसा ने इस सारी घटना को समता से सहा। घर में चारों ओर करुण क्रन्दन और विलाप होने पर भी उसने घटना को घटना के रूप में ही जाना, किन्तु उसे भोगा नहीं। न पहले उसे सन्तानाभाव का कोई दुःख था, न ही उसकी प्राप्ति होने पर प्रसन्नता और न ही पुनः उनके चले जाने का कोई शोक। तीनों अवस्थाएं उसके लिए समान थीं। उसका आलंबनसूत्र था—**'सब कुछ अनित्य है, सब कुछ अनित्य है।'**

२. धम्मं सरणं पवज्जामि

मगध जनपद का मण्डीकुक्ष उद्यान। जन-जन के चित्त को लुभाने वाली उसकी सुरम्यता। वह विश्रान्तों का विश्राम देने वाला, रोगियों को आरोग्य देने वाला और अमुदितों को प्रमुदित करने वाला था। वहां ही हरित वनराजि आंखों को प्रीणित करने वाली और प्राणीमात्र में प्राणसंचार करने वाली थी। प्रभात की नवरश्मियां अपने आलोक से जन-जीवन को अभिस्नात कर रही थीं। पथिकों की क्लान्ति को हरता हुआ सुरभित पवन भीनी-भीनी सौरभ से महक रहा था। प्राभातिक प्राकृतिक सुषमा सबको आनन्द और स्वास्थ्य से भर रही थी।

मगधाधिपति सम्राट् श्रेणिक अपने महामात्य और अंगरक्षकों के साथ प्राकृतिक सुषमा का आनन्द लेते हुए उद्यान में प्रातःकाल का भ्रमण कर रहे थे। उनके अनिमेष नेत्र उद्यान की छटा और सौन्दर्य में अनुरक्त बने हुए प्रफुल्लता का अनुभव कर रहे थे। वहां का चप्पा-चप्पा प्रकृति का दिग्दर्शन कराता हुआ मानो प्राकृतिक जीवन जीने की प्रेरणा दे रहा था। कहीं सूर्यविकासी कमल अपनी उत्फुल्लता प्रदर्शित कर सूर्य का सत्कार कर रहे थे तो कहीं गुलाब, चम्पक, मालती आदि के पुष्प आगन्तुकों का अभिनन्दन कर रहे थे, कहीं आम्रकुंज में कुहुकती कोयलें अपने मधुर गान से लोगों को आकर्षित कर रही थीं तो कहीं निम्ब, पलाश, अशोक और तमाल आदि के वृक्ष अपनी सघन छाया से प्रीति उत्पन्न कर रहे थे। कहीं मृगशावक क्रीड़ा करते हुए दौड़ते नजर आ रहे थे तो कहीं शुक, सारिका, मैना आदि पक्षी एक डाल से दूसरी डाल पर फुदक रहे थे। कहीं घोड़ों की टापों को सुनकर मयूर केकारव कर रहे थे तो कहीं रंग-बिरंगे पक्षी पंखों को फैलाकर नील गगन में उड़ने की तैयारी कर रहे थे।

ऐसे मनोहारी दृश्य से प्रसन्नमना महाराज श्रेणिक वन सुषमा को निहारते हुए चंक्रमण कर रहे थे। सहसा उनके चरण एक निकुंज के समीप जाकर रुक

गए। उनकी दृष्टि तत्रस्थित एक मुनि को देखकर सहम गई। वे कुछ कहना चाहते थे, किन्तु मुनि की ध्यानमुद्रा और रूप-लावण्य-संपन्नता बरबस उनको अपनी ओर खींच रही थी। उनके आभामण्डल से विकीर्ण होने वाले परमाणु राजा के अन्तःकरण को शान्ति और मैत्री से आप्लावित कर रहे थे। मुनि का स्मित-आनन, साधना से प्रभास्वर चेहरा, सहजता, सरलता, न कोई भय और न कोई प्रकम्पन—ये सब भूपति के नेत्रों को सहज तृप्ति और आत्मतोष दे रहे थे। बार-बार देखने पर भी उनके नेत्र अतृप्ति का अनुभव कर रहे थे। अब तक जो ध्यान उद्यान की सुषमा, प्राकृतिक सौन्दर्य पर टिका हुआ था, वही अब मुनि को देखने में निमग्न हो गया। राजा के विस्फारित नेत्र मुनि के सौन्दर्य का पान कर रहे थे। रह-रह कर उनके मन में अनेक जिज्ञासाएं उभर रही थीं। वे मन-ही-मन सोच रहे थे—अहो! इन्होंने मुनित्व क्यों और किसलिए स्वीकार किया है? किसने इनको मुनि बनने के लिए प्रेरित किया होगा? लगता है ये किसी के द्वारा ठगे गए हैं, अन्यथा इस सुकुमार अवस्था में ये संयमपथ को स्वीकार नहीं करते। विचित्र है इनकी निर्भयता! कितनी है इनकी एकाग्रता! कितना दुष्कर है इनका तप!

सम्राट् का मन नाना विकल्पों में उलझा हुआ था। वे महामुनि से समाधान पाने को आतुर थे। वे उस क्षण की प्रतीक्षा में थे कि मुनि कब अपना ध्यान पूरा करें और कब वे अपनी जिज्ञासा समाहित करें?

महामुनि का ध्यान परिसंपन्न हुआ। उन्होंने आंखें खोलीं। उनकी अन्तर्मुखी चेतना अन्तर्जगत् से बहिर्जगत् में लौटी। सत्य की गहराइयों में डुबकियां लेने वाले मुनि अब व्यवहार के धरातल पर खड़े थे। महामुनि के कमललोचन राजा के वदन की ओर झांक रहे थे और सम्राट् का मस्तक महामुनि के चरणों में प्रणत था। वे उन महामनस्वी का साक्षात्कार कर अपने आपको धन्य और कृतपुण्य का अनुभव कर रहे थे। उनकी जिज्ञासा मुखर हो उठी—विभो! मैं नहीं समझ सका कि यौवन की दहलीज पर पादन्यास करने वाले आपने संयमपथ का अंगीकरण किसलिए किया? भोगों की प्रचुरता उपलब्ध होने पर भी संन्यास का ग्रहण क्यों? अनुरक्ति से विरक्ति का स्वीकरण कैसे?

महामुनि—राजन्! सब कुछ उपलब्ध होने पर भी मैं अनाथ था, न कोई मेरा रक्षक था और न कोई पालक। मैंने बहुत खोजा, किन्तु कोई भी मेरा नाथ नहीं बन सका, इसलिए विवश होकर मुझे मुनित्व स्वीकार करना पड़ा।

महाराज श्रेणिक कुछ चौंके और बोले—यदि ऐसी बात है तो छोड़ो इस

साधुत्व के परिवेश को। आओ मेरे साथ। आज से मैं आपका नाथ हूं, रक्षक हूं। जीवनभर आपकी अनुपालना और देखरेख करूंगा। आपकी सारी रक्षा का उत्तरदायित्व मेरे अधिकार में रहेगा।

महामुनि कुछ हंसे और बोले—महाराज! आप स्वयं ही अनाथ हैं, फिर मेरे नाथ बनने की परिकल्पना करते हैं? कितनी विडम्बना है! आप मेरे नाथ बनना चाहते हैं, किन्तु आप स्वयं ही अनाथ हैं, अरक्षित हैं, अशरण हैं।

राजा का मन मुनि के इस रहस्यमय पहेली में उलझ गया। वे पुनः बोले—भन्ते! लगता है आपने मुझे पहचाना नहीं। मैं मगध का सम्राट्, एकछत्र शासन करने वाला, जिसके इंगित पर हजारों-हजारों मनुष्य प्राणों की आहुति देने वाले, जिसके हाथों से लाखों-लाखों मनुष्य अपना पेट भरने वाले और जिसके बाहुबल से सारा मगध जनपद अपने आपको सुरक्षित और दुःखमुक्ति का अनुभव करने वाला, फिर मैं अनाथ, अरक्षित और अत्राण! समझ नहीं सका आपके इस कथन को।

महामुनि—राजन्! मैं आपको भलीभांति जानता हूं। आप सब कुछ हैं, फिर भी वास्तव में अनाथ हैं। आप ही क्या, यह सारा संसार ही अनाथ है। कौन किसका रक्षक और कौन किसका पालक है? व्यक्ति अपने तोष के लिए मान लेता है कि मैं ही सब कुछ हूं। वास्तव में यह उसका कोरा अहंकार और मतिभ्रम ही है। यदि आप सत्य जानना चाहें तो मेरे जीवनवृत्त को सुनें—

मैं कौशाम्बी का श्रेष्ठिपुत्र हूं। मेरे पिता एक अच्छे व्यवसायी थे। दूर देशों में उनका व्यापार चलता था। मुझे धनधान्य की प्रचुरता, भोगोपभोग की विविधता, माता-पिता का अतुल स्नेह, परिवारिकजनों का सौहार्द तथा पत्नियों का अटूट प्रेम आदि सब कुछ मिला। मैंने क्षणभर भी किसी दुःख या अभाव का अनुभव नहीं किया। कभी सोचा ही नहीं कि दुनिया में कोई कष्ट भी होता है। पारिवारिक सुखसंपदा मेरे लिए जितनी सुखकारी थी, उतना ही सुखकर था शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक स्वास्थ्य। उसी के कारण मेरा अहंकार भी बढ़ता चला गया। न मेरा धर्म में विश्वास था और न कर्म में। अपने जीवन के पचीस वसन्त मैंने निर्बाधरूप से प्रचुर ऐश्वर्य और सांसारिक भोगों में व्यतीत किए। एक दिन मैं अपने मित्रों के साथ क्रीड़ा कर रहा था। सहसा आंखों में वेदना का अनुभव हुआ। वेदना के साथ ही मेरे पर तुषारपात-सा हो गया। मैंने कभी सोचा ही नहीं कि ऐसा भी हो सकता है। शीघ्र ही मुझे घर लौटना पड़ा। पारिवारिकजन मेरी पीड़ा से चिंतातुर थे। अनेक कुशल अनुभवी वैद्यों को निमंत्रित किया गया। औषधोपचार प्रारम्भ हुआ,

किन्तु पीड़ा बढ़ती ही गई। सभी उपाय मेरे लिए अर्थशून्य और निष्फल थे। मैं रोगशय्या पर लेटा हुआ जलविहीन मछली की भांति अत्यधिक पीड़ा से तड़प रहा था। मेरा अन्तर्मानस कष्ट से संतप्त बना हुआ कराह रहा था। मैं अपने आपको असहाय-सा अनुभव कर रहा था। उस समय कोई मुझे परित्राण देने वाला, क्षणभर के लिए भी मेरे कष्ट को बंटाने वाला नहीं था। मेरा म्लानमुख और दीनता भरी आंखें चारों ओर शरण पाने के लिए दौड़ रही थीं। जिस प्रकार चन्द्रमा अकेला ही राहुग्रास का अनुभव करता है, उसी प्रकार मैं भी अपने कर्मविपाक का एकाकी अनुभव कर रहा था। अन्ततः मेरे सामने एक ही शरण सूत्र था—धर्म का अवलम्बन। मेरा अन्तःकरण गुनगुना रहा था—

अरहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि,
साहू सरणं पवज्जामि, केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।।

मैंने मन-ही-मन संकल्प किया कि यदि मैं इस व्याधि से मुक्त हो जाऊं तो मैं इस चतुरंग शरण को आत्मसात् कर लूंगा। संकल्प की बलवत्ता ने मुझे मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य प्रदान किया और मेरे चरण जन्म, जरा और मृत्यु से अमरत्व पाने के लिए प्रस्थित हो गए। मेरी चेतना उस शरण में विलीन हो गई, जहां न कोई हीन है और न कोई दीन, न कोई कष्ट है और न कोई भय, न कोई रोग है और न कोई संताप। सभी अर्हताएं विद्यमान हैं उस शरण में और सबका समीकरण है उस शरण में।

महाराज श्रेणिक महामुनि की घटित घटना का श्रवण कर सत्य का साक्षात्कार कर रहे थे। उनके नाथ बनने का दर्प चूर-चूर हो गया था। वे अनाथता के कटघरे में खड़े होकर अपने आपको नाथ होने का पश्चात्ताप कर रहे थे और अनुभव कर रहे थे सत्य की ओट में छिपे अज्ञान का। उनका अन्तर्मानस महामुनि के चरणों में प्रणत होता हुआ बोल उठा—प्रभो! आप सबके नाथ हैं, बान्धव हैं। मेरे अंतर्चक्षु नाथ और अनाथ की भेदरेखा को जान चुके हैं। अब तक मैं अपने अहंभाव के कारण ही नाथ होने का दावा कर रहा था। किन्तु नाथ वह होता है, जो जितेन्द्रिय हो, जितात्मा हो और जिसका चित्त सुसमाहित हो चुका हो। आप जिनपथ के शरणागत हैं, इसलिए आप सबके शरण है, त्राण हैं और रक्षक हैं। महामुनि अपने ही आलोक में अपने आपको देख रहे थे और राजा श्रेणिक देख रहे थे उनके आलोक से आलोकित होकर उस महामनीषी को। पुनः पुनः उनके अन्तर में महामुनि का मंगलमय स्वर प्रतिध्वनित होता रहा और क्रीड़ा करता रहा सबको त्राण-परित्राण देने वाला शरणसूत्र—**अरहंते सरणं पवज्जामि...।**

३. अमरत्व की खोज

हर्म्य के वातायन में बैठा हुआ श्रेष्ठिपुत्र थावच्चा खुले आकाश में निहार रहा था। उसका अबोध मानस जगत् की विचित्रता से बिल्कुल अनभिज्ञ और अजानकार था। यह रंग-बिरंगी दुनिया उसके लिए सुखद स्वप्न और नया-नया-सा अनुभव देने वाली थी। अभी तक उसने इस स्वप्निल संसार में कल्पना की पांखों पर ही बड़ी-बड़ी उड़ानें भरी थीं। यथार्थता और वास्तविकता क्या है, न कभी उसने जाना और न ही उसे समझा। उसकी बाल-सुलभ क्रीड़ाएं और भोलीभाली आकृति सत्य को जानने-परखने के लिए लालायित थी तो अर्धस्खलित और तूतली भाषा सत्य की पिपासु थी। प्रकृति के वातावरण को देखता हुआ कभी वह नीले आकाश की नीलिमा को देखने में अनुरक्त हो जाता तो कभी मथुरा के विशाल जनपथ को देखने के लिए मचल उठता। गगनचुम्बी अट्टालिकाएं और उनको मंडित करने वाली सहस्रांशु की सुनहली किरणें, बड़ी-बड़ी पण्यशालाएं, सज्जित चौड़े-चौड़े बाजार और उनमें बिकने वाली नानाविध वस्तुएं तथा राजपथ से गुजरने वाले राहगीर थावच्चा के नयनों को कौतूहल से भर रहे थे। प्रकृति के इस सहज दर्शन से उसका अन्तर्मानस बरबस झंकृत हो उठा, सौम्य वदन पर प्रफुल्लता खिल उठी और मानो कोई उसे स्वर्गीय आनन्द मिल गया। पर कुमार इस आनन्द से अधिक समय तक तृप्त नहीं रह सका। सहसा उसका मानस कर्णयुगल में प्रतिध्वनित होने वाले शब्दों में उलझ गया। उलझना स्वाभाविक भी था। कुमार ने उन शब्दों को जीवन में प्रथम बार ही सुना और प्रथम बार ही अनुभव किया था। वे शब्द न जाने कितने श्रुतिपुटसुखद, मन को बहलाने वाले, माधुर्यरस से परिपूर्ण, सुरीले कण्ठों से गीयमान और अमृतरस को बिखेरने वाले थे। बालक की हृद्तंत्री सहसा उन शब्दों से झंकृत हो उठी।

अन्तःकरण जिज्ञासा से भर गया। वह अबोधमना समझ नहीं सका कि आखिर यह है क्या? इन्हें क्यों गाया जा रहा है? कुमार समाधान पाने के लिए महल से नीचे उतरा और मां से लिपटते हुए पूछा—मां! आज ये गीत किसके घर गाए जा रहे हैं, क्यों गाए जा रहे हैं? मैंने तो कभी इन्हें सुना ही नहीं। मां ने थावच्चा पुत्र को सहलाते हुए कहा—वत्स! तू अभी तक अज्ञ है, जानता नहीं; सुने भी तो कैसे सुने, यही तो तेरे अवसर आया है। देख, बेटे! आज अपने पड़ोसी के पुत्ररत्न का जन्म हुआ है। उसकी खुशी में ही सुहागिन रमणियां इन सुमधुर गीतों को गा रही हैं।

'तो फिर मां! मेरे जन्म के समय भी ऐसे गीत गाए गए होंगे?'

'बेटे! तुम्हारी तो बात ही क्या? न जाने इन गीतों से कितने अधिक मधुर और चित्त को लुभाने वाले गीत गाए गए थे। मेरे लाडले के लिए कितने उत्सव किए गए थे और कितने व्यक्तियों को तेरी खुशी में प्रीतिभोज दिया गया था। पुत्र! सभी के जन्म के समय कुछ न कुछ ऐसा किया ही जाता है।' कुमार की अन्तर्जिज्ञासा मां के ममतामय वचनों को पाकर समाहित हो गई और पुनः वह तल्लीन बन गया मंगल गीतों की मंगल धुन में।

कुछ समय बीता। सहसा एक उल्कापात हुआ। सुकोमल कमलवन आकस्मिक तुषारापात से दग्ध हो गया। मंगलमय वातावरण में अमंगल का स्वर गूंज उठा। सहसा वह नवजात शिशु सदा-सदा के लिए कालकवलित हो गया। मां की भरी-भरी गोद पुत्र के अभाव में सूनी-सूनी-सी हो गई। भविष्य के लिए सुन्दर-सुन्दर संजोई हुई कल्पनाओं का महल एक साथ ढह गया। चारों ओर हाहाकार। कुटुम्बियों का करुण विलाप। मृदुल अन्तःकरण को संतप्त करने वाला मानसिक संताप। कुमार थावच्चा का मानस हृदयद्रावक और मर्मभेदी शब्दों से बिंधा जा रहा था। उन कर्णकटुक शब्दों से उसका मानस टूक-टूक हो रहा था। चित्त में विचित्र प्रकार की घुटन तथा उत्पीड़न का अनुभव हो रहा था। वह नहीं समझ सका इस आकस्मिक परिवर्तन के रहस्य को। समझे भी तो कैसे? आखिर था तो अबोध-अनभिज्ञ और दुनिया के वातावरण से कोसों दूर। पुनः वह दौड़ा-दौड़ा मां के पास आया और सहमते स्वर में आश्चर्य बिखेरता हुआ बोला—मां! अभी-अभी कुछ समय पूर्व मैंने जिन गीतों को सुना था, वे कहां चले गए? असमय में ऐसे असुहावने गीत! मन करता है कि इन्हें सुनूं ही नहीं। क्या मां! इनको गाने वाला कोई दूसरा है?

पुत्र को वत्सलता से चूमते हुए मां ने कहा—वत्स! ये गीत नहीं, अपितु

रुदन के स्वर हैं। जीवन की लीला बड़ी विचित्र है। दैवयोग से जिस शिशु का अभी-अभी कुछ समय पूर्व जन्म हुआ था, उसी को इस क्रूर मृत्यु ने उठा लिया है। पुत्र! गाने वाला कोई दूसरा नहीं है। जिस पुत्र की खुशी में जो कौटुम्बिकजन इतना अधिक आनन्दोत्सव मना रहे थे, वे ही अब उसके शोक में विलाप कर रहे हैं।

शिशु बोला—ओह! अभी जन्मा और अभी मर गया!

'बेटे! इसमें किसी का वश नहीं चलता। जिसका संयोग होता है, निश्चित ही एक दिन उसका वियोग भी होता है।'

'तो क्या मां! मैं भी मरूंगा?'

'पुत्र! अनिवार्यता को टाला नहीं जा सकता, फिर इसमें तू और मैं बचेंगे ही कहां? बेटा! जन्म और मरण जीवन के दो शाश्वत बिन्दु हैं। एक आदि बिन्दु है तो दूसरा अन्तिम बिन्दु। संसार में परिभ्रमण करने वाला प्रत्येक प्राणी इन दोनों बिन्दुओं का स्पर्श करता है। उसका सारा जीवन इन्हीं दो तटों के बीच प्रवाहित रहता है, फिर इससे छुटकारा पाना कैसे संभव हो सकता है?

पुत्र का मन मृत्यु के भय से उद्विग्न हो गया। वह कातरदृष्टि से मां की ओर निहारता हुआ अकुलाहट का अनुभव कर रहा था। उसने मन-ही-मन सोचा—क्या सचमुच मुझे भी मरना पड़ेगा? क्या वास्तव में यह सत्य है? क्या यह संसार ऐसा दारुण है, जहां कोई भी सुख नहीं? क्या यह जीवन चिरकाल तक जन्म-मरण और जरा से परिक्लान्त होता रहेगा? क्या इस दुःख से उबरने का कोई उपाय भी है या यूं ही इस संसार में परिभ्रमण करता रहूंगा? नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। मुझे कोई न कोई उपाय ढूंढ़ना ही होगा। मां का कथन बार-बार उसके कोमल हृदय को झकझोर रहा था और मन की टीस अपाय में से उपाय खोजने का प्रयत्न कर रही थी। अन्ततः निरुपाय सत्यजिज्ञासु बालक ने समाधान की भाषा में मां से पुनः पूछ ही लिया—मां! यह संसार की परम्परा क्या सबके लिए समान है? क्या कोई अपवाद भी है? वत्स! सबके लिए एक ही नियम है और एक ही परम्परा है। कोई भी उससे वंचित नहीं है। यदि कोई अपवाद है तो वे हैं भगवान् अरिष्टनेमि। उन्होंने जन्म-मृत्यु की परम्परा को विच्छिन्न कर दिया है। वे वीतराग, सर्वज्ञ और महाश्रमण हैं। वे ही दुःख मिटाने में सक्षम हैं। उनकी शरण लेने वाला सब दुःखों से त्राण पा सकता है। उनकी शरण लेने वाला जातिपथ के परिभ्रमण से मुक्त हो सकता है और उनकी शरण लेने वाला जन्म-मरण के चक्रव्यूह को

छेद कर अपने आपको वीतराग की परम्परा में अवस्थित कर सकता है।

एकाएक थावच्चा पुत्र मां के मुख से समाधान पाकर पुलकित हो उठा। उसका सुप्त मानस अमरत्व के उपाय को जानकार प्रबोधित हो उठा। अब उसकी अन्तर्चेतना आशा की नई किरण से भविष्य की सुखद कल्पनाओं में तैर रही थी। वह महामना भगवान् अरिष्टनेमि की शरण पाने को अधीर, उत्कंठित और प्रतीक्षारत था। एक दिन वह भी स्वर्णिम अवसर आया जब कुमार थावच्चा अर्हत् अरिष्टनेमि के समवसरण में चला गया। कुमार से महाश्रमण बन गया और त्याग तपोबल से अपने-आपको भावित कर साधना के उस सर्वोच्च शिखर तक पहुंच गया, जहां जाने पर न कोई रोग होता है और न कोई शोक, न कोई बड़ा होता है और न कोई छोटा, न जन्म होता है और न मृत्यु। वह सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गया।

४. सुख है एकाकीपन में

मिथिलावासियों के गुलाबी चेहरे आज मायूस-मायूस-से लग रहे थे। अन्तःपुर का आमोद-प्रमोद शोकसागर में विलीन हो चुका था। सामन्त, मंत्री, सभासद् और पौरजन सभी का अन्तःकरण अपने लोकप्रिय राजा की स्वस्थता के लिए चिन्तातुर बना हुआ था। नगर में कहीं महाधिपति के स्वास्थ्य की मंगल-कामनाएं की जा रही थीं तो कहीं शीघ्र स्वस्थता के लिए देवों की मनौतियां मनाई जा रही थीं। कहीं ईश्वर से मिथिलाधिपति की नीरोगता के लिए प्रार्थनाएं और कहीं यज्ञ-हवन और उपासनाएं की जा रही थीं। सर्वत्र एक ही चर्चा, एक ही वातावरण, एक ही चिन्ता और एक ही लगन—'महाराज स्वस्थ कैसे हों?'

महानरेश का शयनागार चिकित्साप्रवीण राजचिकित्सकों से भरा हुआ था। उनके लिए अपना भाग्य और पुरुषार्थ को अजमाने के लिए इससे बढ़कर अलभ्य और स्वर्णिम अवसर ही क्या हो सकता था? जिन्होंने कभी महाराज से क्षणभर भी मुलाकात नहीं की आज वे सम्राट् के प्रीतिपात्र बनना चाहते थे और जिन्होंने महाराज के स्वास्थ्य-परीक्षण का बार-बार अवसर प्राप्त किया आज वे उस असाध्य रोग की चिकित्सा कर अपने यश को द्विगुणित करना चाहते थे। परस्पर एक प्रकार की स्पर्धा और उत्साह अन्तःकरण में कार्य कर रहा था, किन्तु सबसे अधिक चिन्ता थी भूपति के स्वास्थ्य की। एक-एक कर राजवैद्य राजा के स्वास्थ्य का परीक्षण कर रहे थे और अपने बहुमूल्य परामर्श तथा औषधियों से महाराज की चिकित्सा कर रहे थे। आज महाराज के लिए सभी परामर्श और औषधियां अर्थ-शून्य और अकिंचित्कर सिद्ध हो रही थीं। व्याधि अपनी चरम सीमा तक पहुंच चुकी थी। दाह-ज्वर से आक्रान्त महीपति का सुकोमल शरीर सूखकर पाण्डुर और कृश हो गया था। अग्नि की

भांति झुलसता हुआ सारा शरीर संताप और बेचैनी से अधीर और व्यग्र बना हुआ था। मुख की आभा में म्लानता और दीनता टपक रही थी। पल-पल और क्षण-क्षण भी महाराज को महीनों और वर्षों तुल्य अनुभव हो रहा था। अपने कर्मविपाक को भोगने के सिवाय उनके पास अन्य कोई उपाय नहीं था। एक कुशल अनुभवी वैद्य ने राजा की बेचैनी और जलन को कम करने के लिए चन्दन लगाने का अनुरोध किया। यह परामर्श महामात्य तथा तत्रस्थित सभी को उचित और रुचिकर लगा। महाराज के आदेश की प्रतीक्षा थी कि सारा अन्तःपुर चूड़ियों की खनखनाहट से प्रतिध्वनित हो उठा। सभी महारानियां अपने प्रियतम की सेवा के लिए पलकें बिछाती हुई तत्काल चन्दन घिसने में संलग्न हो गईं। एक ओर असाध्य रोग की भयंकर पीड़ा तो दूसरी ओर चन्दन घिसने से होने वाली सहस्र चूड़ियों की कर्णवेधक प्रतिध्वनि। महाराज उसे सहन नहीं कर सके। सारा शरीर अत्यधिक बेचैनी और व्याकुलता से कांप उठा। एक-एक ध्वनि-तरंग मस्तिष्क में कौंध कर मानो हथौड़ों जैसी चोटों की प्रतीति करा रही थी। महाराज का धैर्य विचलित हो उठा। सहिष्णुता का सेतु टूट गया। वे अपने आपको संभाल नहीं सके और गरज उठे—कौन है यह कोलाहल करने वाला? क्या उनको मेरा कुछ भी भान नहीं है? जाओ, शीघ्र जाओ, बन्द करो इस कोलाहल को। वरना....। बात कहते-कहते महीपति अधर में ही स्खलित हो गए।

स्वामी के आदेश को पाते ही यथाशीघ्र अनुचर दौड़े और वहां पहुंचे जहां महारानियां चन्दन घिस रही थीं। महाराज की अत्यधिक कष्टानुभूति और आदेश से महारानियों को अवगत कराया। अपने पति की कष्टानुभूति सचमुच उनकी अपनी व्यथा थी। वेदना को सुनते ही उनके नेत्र सजल हो गए। अपनी सहानुभूति के साथ उन्होंने तत्काल सुहाग की एक-एक चूड़ी रखकर शेष सभी चूड़ियां उतार दीं और पुनः चन्दन घिसने लग गईं।

अन्तःपुर का कोलाहल बन्द हुआ। सर्वत्र नीरवता-सी परिव्याप्त हुई। इससे महीपति को कुछ सान्त्वना मिली, असहनीय पीड़ा से कुछ राहत का अनुभव हुआ। वे कुछ आश्वस्त और स्वस्थ हुए। उन्होंने आंखें खोलीं और जिज्ञासा के स्वरों में समीपस्थ परिचारकों से जानना चाहा—'क्या चन्दन घिसना बन्द कर दिया है?' 'नहीं, महाराज'—परिचारकों ने उत्तर दिया।

'तो फिर यह कोलाहल कैसे बन्द हुआ?'

'आर्यवर! महारानियों ने एक उपाय किया है, सुहाग की एक-एक चूड़ी

हाथ में रखकर शेष सभी चूड़ियों को उतार दिया है, जिससे एक पंथ दो काज हो सके, चन्दन भी घिसा जा सके और शब्द भी न हो। इससे महाराज को भी कोई कष्ट न हो। एक चूड़ी का शब्द नहीं होता। दो होने पर ही शब्द होता है।'

इस एक वाक्यश्रवण से ही महाराज कुछ गंभीर और चिन्तन की मुद्रा में उतर गए। उनका अन्तःकरण इस तरंग से आन्दोलित हो उठा। भीतर-ही-भीतर अनावृत रहस्य उद्घाटित होने लगे। महाराज ने स्वयं की समस्या का समाधान स्वयं के द्वारा पा लिया। उनकी अबूझ पहेली अनायास सुलझ गई। उन्होंने अब उस सत्य का साक्षात्कार कर लिया था, जहां जाने पर कोरा चैतन्य विद्यमान रहता है और शेष सभी निःशेष हो जाते हैं। उनका अन्तर्मानस बोल उठा—अरे! यह द्वन्द्व ही तो सारे कष्टों की जड़ है। अकेलेपन में न कोई कष्ट है और न कोई संघर्ष। यह वेदना और कष्ट शरीर को है, मैं चैतन्यवान् हूं, एकाकी हूं।

इस प्रकार चिन्तन करते-करते नमि राजर्षि एकत्व अनुप्रेक्षा से अनुभावित हो गए। उन्होंने शरीर और चैतन्य का स्पष्ट बोध कर लिया। उन्हें वह आलोक मिल गया जिसे पाकर वे चिन्मय बनना चाहते थे। उन्हें वह पथ मिल गया जिसे पाकर उनके चरण मंजिल तक पहुंचना चाहते थे। मन का संकल्प दृढ़ हुआ। धीरे-धीरे रोग उपशान्त होता चला गया। नमि राजा मंजिल की खोज में निकल पड़े। विशाल राज्य, प्रचुर-वैभव, महारानियों का क्रन्दन और पुत्र-पौत्र आदि का स्नेह उन्हें अपने बन्धन में आबद्ध नहीं कर सका। वे एकान्तवासी बन गए, आत्मसाधना में लीन हो गए। अध्यात्म की गहराइयों में डुबकियां लेते हुए एकत्व अनुप्रेक्षा में समरस बन गए। कभी देवता उनकी परीक्षा करते तो कभी पथ से गुजरने वाले पथिक विविध प्रकार के प्रलोभन देते। कोई उन्हें सम्बोधित कर कहता—मुने! देखो, तुम्हारी आंखों के सामने मिथिला जल रही है। बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएं गिर रही हैं। अन्तःपुर में रानियां क्रन्दन कर रही हैं। तुम एक बार आंख उठाकर देखो तो सही। तुम्हारे देखने मात्र से ही ये सब उपद्रव शान्त हो जाएंगे।

नमि राजर्षि अपने आपमें इतने अधिक तल्लीन थे कि उन्हें कोई भी प्रतिक्रिया प्रभावित नहीं कर सकती थी। वे ध्यान-कवच में सुरक्षित थे, अपने आपमें एकाकी थे। उन्हें न तो कोई मिथिला जलने से प्रयोजन था और न कोई अन्तःपुर की रानियों से ही सम्बन्ध था। चैतन्यधारा में प्रवाहित होते हुए वे अनुभव कर रहे थे—**'कैसा सुख सुन्दर अन्दर है, भरा एकाकीपन में।'**

५. भेदविज्ञान

शरद् ऋतु का निरभ्र आकाश! मीठा-मीठा शीत अपने शैत्य से लोगों को पराभूत कर रहा था। सूर्य का आतप शरीर को रुचिकर लगता हुआ जन-जन के लिए प्रिय बना हुआ था।

चातुर्मासिक प्रवास की परिसंपन्नता। वर्षा-ऋतु समाप्त हो चुकी थी। चारों ओर भूमि मानो हरी साड़ी पहने हुए उल्लसित दिखाई दे रही थी। कृषक लहलहाते खेतों को देखकर मन ही मन मोद मना रहे थे। कहीं फसलों को काटे जाने की तैयारियां की जा रही थीं तो कहीं फसलें काटी जा चुकी थीं। कहीं अन्न को तुष से पृथक् किया जा रहा था तो कहीं पुनः रबी की फसल को बोया जा रहा था।

आचार्य सीलंगधर अपनी शिष्य मण्डली के साथ चतुर्मास संपन्न कर विहार कर रहे थे। वे ग्रामानुग्राम विहार करते हुए अपनी पीयूषवाणी से जनता को उद्‌बोधित कर रहे थे। उनके सभी शिष्य प्रतिभासंपन्न, मेधावी और आचारकुशल थे। किन्तु उनमें से एक शिष्य अपनी अल्पज्ञता पर मन-ही-मन क्षुब्ध बना हुआ था। बार-बार पुनरावर्तन करने पर भी वह पाठ को कठिनता से याद कर पाता और याद हो जाने पर शीघ्र ही विस्मृत हो जाता। एक ओर बुद्धि की मन्दता थी तो दूसरी ओर अपने सतीर्थ्य मुनियों से पीछे रहने का खेद था। आचार्य उसकी जड़ता को मिटाने का पुनः पुनः प्रयास कर रहे थे। कभी उसकी हीनता मिटाने के लिए उसे उत्साहित करते तो कभी अतिरिक्त वात्सल्य देते हुए सहज और सरल भाषा में शिक्षाबोध कराते। एक बार आचार्य ने उसे दो वाक्यों का एक सीधा-सुबोध पाठ पढ़ाया—'मा तुष', 'मा रुष'। उसका अर्थ था कि न कभी राग करो और न कभी द्वेष। शिष्य ने पाठ को पढ़ा और उसे याद करने लगा। चिरकाल के बाद किसी प्रकार वह पाठ

याद हुआ, किन्तु एक-दो दिन के बाद वह पुनः उसे भूल गया। पाठ भूलने का दुःख तो था ही, पर स्मृति पर बार-बार जोर देने पर भी याद नहीं आ रहा था। उसने बहुत प्रयत्न किया, अन्ततः वह अभिभूत हो गया।

एक दिन सीलंगाचार्य विहार कर किसी गांव में जा रहे थे। वह शिष्य भी उनके साथ था। मार्ग में एक खेत आया, जहां किसान माष को तुष से अलग कर रहा था। उसने किसान से पूछा—क्या कर रहे हो? किसान बोला—माष को तुष से अलग कर रहा हूं। यह सुनते ही शिष्य चौंका और तत्काल घटना का निमित्त पाकर उसका स्मृति-प्रकोष्ठ जाग उठा। वह मन ही मन सोचने लगा—अरे! जिस पाठ को गुरुजी ने मुझे पढ़ाया था वह पाठ तो 'मा तुष' 'मा रुष' है। न जाने कितने दिनों तक पाठ को पुनः याद करने का प्रयत्न किया आखिर आज वह मेरे स्मृतिपटल पर आ ही गया। उसे अपने आपमें अनुताप भी था और प्रसन्नता भी। यद्यपि आचार्य द्वारा पढ़ाया जाने वाला और स्वयं के द्वारा समझा जाने वाला पाठ काफी भिन्न था, फिर भी उसने उसी पाठ को याद कर लिया। उसने सोचा—जिस प्रकार उड़द से छिलका अलग होता है, उसी प्रकार यह शरीर भी आत्मा से भिन्न है। मैं चैतन्यवान हूं। मुझे भेदविज्ञान का बोध कराने के लिए ही आचार्य ने इस वाक्य को रटाया है। शिष्य का चिन्तन ऊर्ध्वमुखी हुआ और वह अन्तर्जगत् में सत्य का अन्वेषण करने लगा। पराया पराया ही होता है, इस सत्योक्ति को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। अपने घर का अवलोकन वही कर सकता है, जिसने अपने से भिन्न को देखा है। जिसके पीछे संयोग जुड़ा हुआ है, ममता जुड़ी हुई है वह शरीर एक दिन सबका साथ छोड़ देगा, फिर मोहवश इस पौद्गलिक शरीर के प्रति इतनी अनुरक्ति! इतनी अभिन्नता! क्यों नहीं मैंने इस मूर्च्छा को तोड़ा? मेरी अल्पज्ञता और अज्ञान इसी कारण दुःख दे रहे हैं। शिष्य अपने आपमें अन्यत्व अनुप्रेक्षा करता हुआ शरीर और आत्मा को भिन्न देख रहा था। अनुप्रेक्षा करते-करते वह स्थूल से सूक्ष्म में प्रविष्ट हुआ और अन्यत्व के कारण उसने सूक्ष्मतम गहराइयों में जाकर आत्मा का साक्षात्कार कर लिया। अब वह केवलज्ञान, केवलदर्शन और आत्मिक सुखों की गंगोत्री में निमज्जन कर रहा था और अनुभव कर रहा था शरीर और आत्मा की भिन्नता को।

६. आत्मा की आराधना

चक्रवर्ती सनत्कुमार का भव्य राजप्रसाद। प्राची दिशा में अठखेलियां करने वाली नवोदित सूर्य की सुनहली किरणें। उनसे प्रभासित होता हुआ राजमहल रत्नजटित मूंगे की भांति चमक रहा था। मन्दिरों में घंटियां बज रही थीं। सभी दिशाएं अरुणिमा से लाल होती हुई मानो जनजीवन को प्रबुद्ध कर रही थीं। षट्खंड की समृद्धि जिनके मस्तक का छत्र थी, मनुष्यों के सुख जिनके चरणों के फूल बने हुए थे। देवताओं के विलास और रूपमाधुरी जिनके आंगन में क्रीड़ा करती थी और जीवन की समस्त रसिकताएं जहां तुच्छ-सी प्रतीत होती थीं, वे हस्तिनापुर के अधिपति सनत्कुमार कुछ क्षण पूर्व ही अपने शयन से उठकर राजप्रासाद के पीछे उपवन में टहल रहे थे। उनके अलसाए हुए नेत्र उद्यान के वृक्ष, पुष्प और लताओं का सौन्दर्य निहारते हुए प्रफुल्लित हो रहे थे। शस्त्रास्त्रों से सज्जित प्रहरी राजप्रासाद के मुख्य द्वार पर खड़े हुए अपने-अपने कार्य में संलग्न थे। वे मुख्य द्वार से आने-जाने वाले व्यक्तियों पर कड़ी निगरानी रख रहे थे।

लगभग एक घटिका पश्चात् महाराज भ्रमणकार्य से निवृत्त होकर राजप्रासाद के प्रांगण में प्रविष्ट हुए। महाप्रतिहारी ने सम्राट् को नमस्कार करते हुए निवेदन किया—महाराज! विप्रद्वय आपका साक्षात्कार करना चाहते हैं, इच्छा हो तो उन्हें प्रविष्टि की अनुमति देकर कृतार्थ करें। स्वीकृति पाकर महाप्रतिहारी मुड़े और दोनों विप्रों को साथ लेकर सम्राट् के समक्ष उपस्थित हो गए। दोनों ने सम्राट् को देखा तो देखते ही रह गए। उन्होंने कभी कल्पना ही नहीं की थी कि देवों को अभिभूत करने वाला ऐसा सुरूपवान् मर्त्य भी मर्त्यलोक में मिल सकता है। सौधर्मेन्द्र ने जिस रूपलावण्य की प्रशंसा की थी वह वस्तुतः स्तुत्य, सत्यापित और प्रत्यक्षीभूत था। उसके अंग-अंग से लावण्यमधुरिमा टपक रही थी। वह रूपमाधुरी देवताओं के लिए भी स्पृहणीय,

दुर्लभ और दर्शनीय थी। उनका अन्तःकरण नलिनी के पराग में लुब्ध भ्रमर की भांति रूपसुधा में प्रसक्त बना हुआ था। वे विस्फारित नेत्रों से बार-बार उस रूप-लावण्य का पान करते हुए भी असंतुष्टि और अतृप्ति का अनुभव कर रहे थे। मन कर रहा था कि घंटों तक उस सौन्दर्य को देखते ही जाएं।

बीच में ही सम्राट् ने उन्हें टोकते हुए पूछा—महानुभावो! आप यहां क्यों और किसलिए आए हैं? इस प्रकार मौन कैसे खड़े हैं? ब्राह्मणों ने उत्तर देते हुए कहा—चक्रीश्वर! हम जिसके लिए आए हैं, वह प्रयोजन हमारा सिद्ध हो गया है। आज हम आपको देखकर कृतार्थ और पुण्यार्थ हो गए। सुना तो बहुत बार था आपकी रूप-महिमा को, किन्तु देखने का आज ही प्रसंग बना है। आपकी त्रिभुवन-मोहिनी मुद्रा को बार-बार देखती हुई भी ये आंखें प्यासी की प्यासी हैं। अन्तर्मानस में झांकता हुआ यह सौन्दर्य पुनः पुनः हमको देखने के लिए लालायित कर रहा है। अहा! कैसा विचित्र है आपका यह लावण्य और कैसी विचित्र है यह मधुरिमा! कौन रहना चाहेगा इससे वंचित और कौन गंवाना चाहेगा इसकी अलभ्यता? न जाने ऐसी सुन्दर छवि देवलोक में होगी या नहीं! काश! ऐसी रूपसुधा का देव भी पान करते। आपके गरिमामय रूप को पाकर यह वाणी मौन हो जाना चाहती है और लावण्यसुधा को पीकर ये लोचन कृतकृत्य हो जाना चाहते हैं।

सनत्कुमार मन ही मन स्वप्रशंसा के झूले में झूलते हुए फूले नहीं समा रहे थे। उनका पूरा शरीर अहंकार से रोमांचित हो उठा। एक ओर राज्यसत्ता और प्रचुर वैभव का मद तो दूसरी ओर सुरूपलावण्य का मद। उन तीनों के बीच झांकता हुआ उनका विशाल व्यक्तित्व प्रतिभासित हो रहा था। भीतर ही भीतर छिपा हुआ अहंकार का अनल प्रशंसा की आहुति पाकर भभक उठा। उन्होंने मन ही मन अहंकार से गर्वित होकर सोचा—अरे! इन्होंने अभी तक मेरे वास्तविक रूप को देखा ही कहां है? विभूषाविहीन शरीर का जब इतना मूल्यांकन है तो विभूषा से विभूषित शरीर का कितना मूल्यांकन होगा? अभी तो न मैंने स्नान ही किया है और न ही शरीर को अंगराग से मर्दित किया है। जब मैं स्नानादि से निवृत्त होकर राजसी पोशाक में चक्रवर्ती के सिंहासन पर बैठूंगा तब न जाने मेरी रूपछटा क्या कुछ होगी? सम्राट् ने अपने मनोभावों को छिपाते हुए ब्राह्मणों से कहा—यदि आपको देखना ही था तो अच्छा होता कि आप राजसभा में उपस्थित होते। ब्राह्मणों ने बद्धांजलि होते हुए कहा—आर्यवर! यदि आपकी अनुज्ञा हो तो हम वहां भी आ सकेंगे। स्वीकृति पाकर विप्रवर अतिथिगृह में चले गए।

चक्रवर्ती सनत्कुमार अन्य दिनों की अपेक्षा आज अपने रूप को दिखाने की आशंसा से स्नान करने में अतिरिक्त श्रम और समय लगा रहे थे। उनका शरीर कर्पूर, अगर, कंकोल, कस्तूरी और चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों से सुगन्धित हो रहा था। राजसिक वस्त्राभूषणों से उनका अंग-अंग विभूषित था। निश्चित समय पर वे राजसभा में पहुंचे। चक्रवर्ती का रत्नजटित सिंहासन और मस्तक पर सुशोभित होने वाला चक्रवर्ती का छत्र। दोनों ओर चंवर डुलाती हुई परिचारिकाएं और परिचर्या में समीपस्थ बैठे हुए महामात्य, सामन्त, सभासद्, अंगरक्षक तथा नगर के दूसरे गण्यमान्य व्यक्ति। उस समय का दृश्य ऐसा लग रहा था कि मानो कोई शचीपति सुधर्मासभा में अपने स्वर्गसदों के बीच बैठा हो और जगतीतल को प्रकाशित करने वाला चन्द्रमा नक्षत्रगण से परिवृत होकर जगमगा रहा हो।

दोनों ब्राह्मण टकटकी लगाए महाराज को देख रहे थे। सम्राट् ने तत्काल ब्राह्मणों से पूछा—विप्रवरो! देखा न आपने! क्यों? कैसा रहा आपका अनुभव?

ब्राह्मण कहें तो क्या कहें। उन्होंने पहले जो रूप देखा था वह समाप्त हो चुका था। सरसता विरसता में बदल चुकी थी। सहसा ब्राह्मणों ने अस्वीकृतिसूचक माथा हिलाया। चक्रवर्ती सनत्कुमार अपने आपमें विस्मयातिरेक से भर गए। उन्होंने मन ही मन सोचा—कैसे अजीब आदमी हैं कि जो सचाई को छिपा रहे हैं। क्या मेरे रूप के पिपासु ये ब्राह्मण अब इस रूप से ऊब चुके हैं? क्या मेरा रूप पहले से कम है? नहीं, नहीं, लगता है कि इन्होंने अभी तक ठीक प्रकार से समझा ही नहीं है। महाराज को उनके अस्वीकृति सूचक संकेत पर विश्वास नहीं हो रहा था। उन्होंने प्रश्न की भाषा में फिर पूछा—क्यों? ब्राह्मणो! क्या हुआ?

महाराज! जो होना था हो गया, अब वह बात नहीं रही, जो पहले थी। आपका रूप विरूप हो चुका है। यदि फिर भी आपको विश्वास न हो तो जरा थूककर देख लें। ज्यों ही सम्राट् ने पीकदानी में थूका, सारी सचाई प्रत्यक्ष हो गई। उसमें संख्यातीत कीड़े बिलबिला रहे थे। इस दृश्य को देखकर महाराज हक्के-बक्के से रह गए। क्षणभर उन्हें अपनी आंखों पर विश्वास ही नहीं हुआ कि एक-दो घंटे के अन्तराल में शरीर में इतना कुछ परिवर्तन भी घटित हो सकता है। उनके शरीर में एक नहीं, सोलह-सोलह महाभयंकर रोग उत्पन्न हो चुके थे। जो फूल प्रभात में अपनी डाली पर मुस्करा रहा था, वही अब मुरझाया हुआ बिलख रहा था। महाराज सनत्कुमार अपने आपमें अनुताप के आंसू बहा रहे थे। इस आकस्मिक परिवर्तन से उनका मन शरीर की

क्षणभंगुरता और अशाश्वता को समझ चुका था। एड़ी से चोटी तक चढ़ा हुआ सारा अहंकार अन्य की शरण जाने को अगल-बगल झांक रहा था। ममकार की सघनमूर्च्छा सत्यसंजीवनी को पाकर टूट चुकी थी। सम्राट् का टूटा-टूटा दिल सत्य और परमार्थ को खोज रहा था। एकाएक उनकी अन्तश्चेतना बोल उठी—अरे! जिस शरीर को अच्छे-अच्छे पकवान खिलाकर हृष्ट-पुष्ट और मांसल बनाया, जिसको नित्य-प्रतिदिन अच्छी-अच्छी पोशाकों तथा अलंकारों से सजाया तथा जिसको रगड़-रगड़कर तैल-इत्र आदि सुवासित द्रव्यों से रिझाया, वह भी साथ छोड़ देगा, कभी नहीं सोचा। जिसको आज तक मैंने अपना माना वह भी आज पराया बन गया। क्यों मैंने इस पौद्गलिक और अशुचिमय शरीर को इतना मूल्य दिया? क्या मैं बाह्य सौन्दर्य में उलझकर त्वचा, मांस और शोणित को ही देखता रहा? क्या कभी इसके भीतर छिपे हुए सारतत्त्व का अनुचिन्तन किया? नहीं, नहीं, आज तक मेरा सारा चिन्तन विपरीत दिशा में ही प्रवाहित रहा। इस प्रकार सम्राट् सनत्कुमार शरीर की अशुचि का चिन्तन करते हुए उसके भीतर छिपे हुए सारतत्त्व को खोजने का प्रयत्न कर रहे थे। सत्य की गहराई में जाने पर उन्हें बोध हुआ कि इस अशुचिमय शरीर में केवल एक ही सामर्थ्य है परमार्थ की उपलब्धि। इस उपलब्धि का वरण इस शरीर-शक्ति से ही किया जा सकता है। उस शरीर-नौका से ही भवसमुद्र को तरा जा सकता है। उनकी सारी अर्हता परमार्थ को पाने के लिए आतुर थी। उनके चरण सिंहासन से संन्यास की ओर गतिमान होना चाहते थे। आत्मरमण और अध्यात्म-साधना ही अब उनका लक्ष्य बन चुका था। उन्होंने अपने संकल्प को पारिवारिकजनों के समक्ष दोहराया। प्रचुर वैभव, राज्यसत्ता और पत्नियों का अनुराग बार-बार इस संकल्प को चुनौती दे रहा था, किन्तु चक्रवर्ती सनत्कुमार उस चुनौती को स्वीकार करते हुए अपने लक्ष्य के प्रति समर्पित थे। छह छह महीनों तक पत्नियों का करुण क्रन्दन उनके कानों में गूंजता रहा। प्रचुर सम्पदा और राज्यसत्ता के प्रलोभन ने उन्हें अपने पाश में आवेष्टित करना चाहा, फिर भी वह उन्हें बांध नहीं सका और न ही कोई उनके लक्ष्य को बदल सका। वे अपनी कसौटी में खरे उतरे।

वे प्रव्रजित हो गए। साधनापथ पर एकाकी बढ़ते हुए वे अपने आपको त्याग और तपस्या से भावित कर रहे थे। उनकी सारी ऊर्जा बाहर से हटकर अन्तर् की ओर क्रियाशील थी। शरीर के प्रति होने वाला ममत्व विलुप्त हो चुका था। वे शरीर की सब प्रकार से उपेक्षा करते हुए आत्म-साधना में अनुरक्त थे। न उन्हें शरीर में होने वाला रोग प्रताड़ित कर रहा था और न ही शरीर के

प्रति किसी भी प्रकार का कोई आकर्षण था। वे आत्मानुभव करते हुए शरीर का व्युत्सर्ग कर चुके थे। शरीर में अपार कष्टानुभूति होने पर भी कभी उनकी समता खंडित नहीं हुई। वे इस नश्वर शरीर के भीतर भी आत्मा की अमरता का दर्शन कर रहे थे। वे सोच रहे थे कि जो कुछ भी कष्ट है वह सब इस पौद्गलिक शरीर को है, आत्मा में कष्ट है ही कहां? उनकी कष्ट-सहिष्णुता दूसरों के लिए अनुकरणीय और श्लाघनीय थी। जब उनकी कष्ट-सहिष्णुता का सौधर्मेन्द्र ने साक्षात्कार किया तो वे भी देवपरिषद् में उसकी चर्चा किए बिना नहीं रह सके। पुनः दोनों देव वैद्य का रूप बनाकर परीक्षा के लिए मर्त्यलोक में आ पहुंचे और मुनि सनत्कुमार से प्रार्थना करते हुए बोले—प्रभो! आपकी असाध्य और कष्टजनित बीमारी को देखकर हम करुणा से आर्द्र हो रहे हैं, लगता है आपने अभी तक कोई उपचार नहीं किया। हमारे पास बहुमूल्य और प्रभावक औषधियां हैं, जिनका आसेवन निश्चित ही आपको रोगमुक्ति दे सकेगा। कृपा कर आप हमें उपकृत करें, चिकित्सा करने का अवसर दें और '**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**' की उक्ति को विस्मृत न करें। मुनि सनत्कुमार अहंकार और ममकार के चक्रव्यूह का भेदन कर यथार्थ के आलोक को पा चुके थे, अतः उन्होंने उत्तर देते हुए कहा—वैद्यवरो! तुम्हारा कथन और मेरा चिन्तन परस्पर विसंगत-सा लग रहा है। मैं शरीर हूं ही कहां? मैं जो कुछ हूं उसे तो उपलब्ध हो चुका हूं। चैतन्यानुभूति होने पर शरीर के कष्ट का संवेदन और मूर्च्छा की प्रतीति होती कहां है? मैं शरीर-व्याधि को जानता हुआ भी भोग नहीं रहा हूं। मैं चैतन्यधारा के उस धरातल पर खड़ा हूं, जहां आधि, व्याधि और उपाधि की परिधि समाधि के केन्द्र में सिमट गई है। यदि शरीर की नीरोगता को चाहता तो मैं पहले ही उस बीमारी को मिटा लेता। इतना कहकर मुनि सनत्कुमार ने तत्काल अंगुलि से थूक निकाला और उसे अपने रोगग्रस्त शरीर पर लगाया। मुनि की लब्धि से शरीर का वह भाग कंचनमय होकर स्वस्थ हो गया। मुनि ने प्रश्नचिह्न उपस्थित करते हुए वैद्यों से कहा—कहां है तुम्हारी औषधि में इतना सामर्थ्य? यदि नहीं है तो फिर मेरी चिकित्सा कैसे? मुनि का यह प्रश्न अनुत्तरित था और वैद्य प्रणत थे उनके लब्धि-सम्पन्न चमत्कार से। मन ही मन उन्होंने मुनि की श्लाघा और स्तवना की और फिर चले अपने गन्तव्य की ओर। मुनि सनत्कुमार आत्मरमण और ऊर्ध्वारोहण करते हुए नश्वर और अशुचिमय देह का विलोडन कर परमार्थ का नवनीत निकाल रहे थे और उद्घाटित कर रहे थे चिरन्तन सत्य को—'**आत्मा की आराधना ही केवल अनुपम सार।**'

७-८. जे आसवा ते परिस्सवा

राजगृह की पुण्यस्थली में भगवान महावीर का समवसरण। प्रभुदर्शन के लिए उमड़ती हुई जनता की भीड़। नगर की गलियां और राजपथ जनसंकुल होते जा रहे थे। जिसने भी भगवान् के आगमन का संवाद सुना, वह अपनी उत्सुकता नहीं रोक सका और भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए चल पड़ा। महाराज श्रेणिक भी नगर के सम्भ्रान्त लोगों के साथ परिवारिकजनों से परिवेष्टित होकर प्रभुवन्दन के लिए चले जा रहे थे।

राजपथ के एक छोर पर खड़े एक महामुनि सहस्र-सहस्र दर्शकों के लिए जिज्ञासा और कुतूहल का विषय बने हुए थे। एक पांव के सहारे ऊर्ध्वबाहु में स्थित उनकी विशिष्ट ध्यानमुद्रा लोगों को बरबस अपनी ओर खींच रही थी। उन्हें देखकर चलते हुए कदम सहसा क्षणभर के लिए रुकते और पुनः भगवान के समवसरण की ओर बढ़ जाते। वे राजर्षि पोतनपुर के महाराज प्रसन्नचन्द्र थे। भगवान् महावीर से संबुद्ध होकर उन्होंने दीक्षा अगीकार की और अपने राज्य का उत्तरदायित्व नाबालिग पुत्र को सौंपकर स्वयं उस भार से मुक्त हो गए। वे नहीं चाहते थे कि पुत्र के युवा होने तक राज्य व्यवस्था में ही लिप्त रहा जाए, इसलिए उन्होंने यह मार्ग चुना। भगवान् की अनुज्ञा से आज वे समवसरण के समीप ही ध्यान के विशेष प्रयोग कर रहे थे। उधर से आने वाला व्यक्ति उनकी ध्यान-साधना को देखकर सहज ही प्रणत हो जाता। कोई उन्हें अपनी मौनभावाभिव्यक्ति के द्वारा वर्धापित करता तो कोई अपनी वाचिक स्तवना से उनका गुणगान करता। कोई अपने कायसंस्पर्श से उनका स्पर्श करना चाहता तो कोई मस्तक झुकाकर दूर से ही वन्दना करता। हजारों-हजारों लोग उनके सामने से चले जा रहे थे, फिर भी उनकी साधना में न कोई व्यवधान और न कोई बाधा। प्रत्युत उनकी ध्यान-साधना में वही तल्लीनता और एकाग्रता

झलक रही थी। महाराज श्रेणिक भी उनकी ध्यानस्थ सौम्यमुद्रा को देखकर गद्‌गद हो उठे और उनका अन्तःकरण बोल उठा—हे महामुने! आप धन्य हैं, पुण्यशाली हैं, जो इतनी उत्कृष्ट साधना कर रहे हैं। आपकी सतत जागरूकता और अप्रमत्तता ने निश्चित ही कर्मों को क्षीण किया और आप इस भवसागर को तर गए हैं। प्रभो! आप जैसे महामुनि का दर्शन पाकर मैं सनाथ और कृतपुण्य हो गया हूं। मेरे अनिमेष नेत्र आपकी इस भव्यमुद्रा को देखकर तृप्त हो गए हैं। सम्राट् श्रेणिक पुनः पुनः मुनि का गुणानुवाद कर रहे थे और मुनि मौन खड़े थे। राजर्षि को देखकर राजा श्रेणिक के अन्तःकरण में श्रद्धा का एक बीज वपन हुआ और वे अन्तर्जिज्ञासा को लेकर वहां से प्रस्थित हो गए।

उतार-चढ़ाव जीवन की शाश्वत प्रक्रिया है। कभी व्यक्ति ऊपर चढ़ता है तो कभी नीचे की ओर फिसल जाता है। सारी परिस्थितियां, सारा समय और सारे परिणाम सर्वदा एक समान नहीं होते। कभी-कभी उनमें नाटकीय ढंग से परिवर्तन भी हो जाता है।

राजर्षि प्रसन्नचन्द्र अभी तक अपनी ध्यान-साधना के द्वारा शुद्ध अध्यवसायों में आरोहण कर रहे थे। उनके अन्तःकरण की पवित्रता बढ़ती जा रही थी। सहसा महाराज श्रेणिक के पीछे-पीछे एक व्यक्ति वहां से गुजरा। जब उसने राजर्षि को ध्यान करते हुए देखा तो उसका मन ईर्ष्या से भर गया। वह भावावेश में अनर्गल प्रलाप करता हुआ बोल उठा—अरे ढोंगी साधु! तू अपनी साधना का क्या प्रदर्शन कर रहा है! शत्रुसेना ने तेरे राज्य को घेर रखा है। जरा अपने कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक कर, केवल आंख मूंदने से ही कुछ नहीं होता। तेरा वह एकाकी और नाबालिग पुत्र कैसे शत्रुसेना से लोहा ले सकेगा? जिसके अभी तक दाढ़ी-मूंछ के बाल भी नहीं उगे हैं, तूने उस नन्हें सुकोमल बालक के हाथ में राज्यसत्ता की डोर थमा दी, दुर्बल कन्धों पर विशाल राज्य का भार डाल दिया और स्वयं यहां निश्चिन्त होकर, कायर बनकर बैठ गया। क्या यह पलायन की मनोवृत्ति नहीं है? क्या तुझे शर्म नहीं आती? अभी कुछ नहीं बिगड़ा है, अपने पौरुष को संभाल, कुछ पराक्रम दिखा, अन्यथा कुछ ही क्षणों में सर्वनाश हो जाएगा।

शब्दों ने राजर्षि के मर्मस्थल पर गहरा आघात किया। वे ध्यान से विचलित हो गए, श्रामण्य को भूल गए। एक ओर उन्हें पुत्र का भयाकुल चेहरा दृग्गोचर हो रहा था तो दूसरी ओर राज्यसत्ता का किसी दूसरे के हाथ में जाने का भय था। सुषुप्त अहंकार और ममकार जाग उठा। राज्य के प्रति, पुत्र के

प्रति ममकार उमड़ पड़ा। उन्होंने मन ही मन सोचा—अरे शत्रुओं का इतना दुस्साहस! क्या वे मेरी अनुपस्थिति का लाभ उठाना चाहते हैं? क्या उन्होंने इसी अवसर को श्रेष्ठ समझा? खैर! मैं अभी जाता हूं और एक-एक बार सबको जीतता हूं। इतना विचार करते ही राजर्षि ने मन की पांखों से एक उड़ान भरी और पोतनपुर पहुंच गए। अपने पुत्र को संभाला और फिर उतर पड़े सेना से सुसज्जित होकर रणक्षेत्र में। चारों ओर मोर्चाबन्दी और घमासान युद्ध। दोनों ओर से वार-प्रतिवार हो रहे थे। प्रसन्नचन्द्र मन ही मन शत्रुसुभटों को धराशायी कर रहे थे।

इधर मुनि का भीषण कल्पनासंग्राम चल रहा था तो उधर महाराज श्रेणिक राजर्षि के विषय में भगवान् से कुछ पूछना चाहते थे। उनके मन में रह-रहकर कुछेक जिज्ञासाएं उभर रही थीं। उन्होंने प्रवचन-समाप्ति के पश्चात् भगवान् को वन्दन करते हुए पूछा—प्रभो! आपके धर्म-अनुशासन में अनेक निर्ग्रन्थ हैं, किन्तु प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की अपनी अद्वितीय और उत्कृष्ट साधना देखने को मिली। उनकी इस दुष्कर करनी को देखकर लगता है कि उन्होंने काफी ऊंचाई को प्राप्त कर लिया है। यदि वे इस समय आयुष्य को पूर्ण कर जाएं तो कहां उत्पन्न होंगे?

'प्रथम नरक में', भगवान् ने रहस्य को खोलते हुए कहा।

राजा श्रेणिक सहसा विस्मय में डूब गए। उनकी इतनी उत्कृष्ट साधना और फिर नरकगमन? किन्तु सर्वज्ञ के वचनों पर अविश्वास भी कैसे किया जा सकता था। एक ओर राजर्षि की प्रखर-साधना का चित्र प्रत्यक्ष था तो दूसरी ओर सर्वविद् के वचनों में गहन आस्था थी। बात कुछ अटपटी-सी लग रही थी। कुछ समय बीता। पुनः राजा श्रेणिक ने उसी प्रश्न को दोहराते हुए पूछा—भंते! यदि अभी उनका आयुष्य पूरा हो जाए तो वे किस गति में जाएंगे?

भगवान्—दूसरे नरक में।

उत्तर सुनते ही राजा सकपका गया। क्या ऐसे महातपस्वी भी दूसरे नरक में? बात कुछ असंगत-सी लग रही थी। एक ओर तपस्या की उत्कृष्टता तो दूसरी ओर उनका अधःपतन। राजा के सामने दुविधा-सी उत्पन्न हो गई। वे बिना पूछे नहीं रहे सके और पुनः बोले—भगवन्! अब?

भगवान्—तीसरे नरक में।

यह क्या? क्या मेरे प्रत्येक प्रश्न के साथ एक-एक नरक बढ़ता ही

रहेगा? राजा श्रेणिक मन में किंचिद् अकुलाहट का अनुभव कर रहे थे। ज्यों-ज्यों श्रेणिक प्रश्न पूछते गए, त्यों-त्यों प्रत्येक बार भगवान् नरकवृद्धि की ही उद्घोषणा करते गए। वह उद्घोषणा सातवें नरक तक पहुंच गई।

इधर भगवान् महावीर और राजा श्रेणिक के बीच प्रश्नोत्तर चल रहे थे, उधर राजर्षि के कानों में पुनः किसी पथिक द्वारा निःसृत वचन टकराए। उसने कहा—धन्य है आपका श्रामण्य! धन्य है आपका मुनित्व! धन्य हैं आप जैसे राजर्षि! धन्य है आपका त्याग और प्रत्याख्यान! महामुनि कुछ चौंके। मन में साधुत्व का भान हुआ। मन में सोचा—अरे! किसका राज्य और किसका पुत्र? मैं तो उन्हें कभी का ही छोड़ चुका हूं। मैं किससे लड़ रहा हूं? मैं श्रमण हूं, संयत हूं, विरत हूं। मैंने अपने पापकर्मों को प्रतिहत और प्रत्याख्यात कर दिया है। शुभ अध्यवसायों मे प्रतिक्रमण हुआ। उन्होंने आत्मालोचन किया। जो दीप स्नेह के अभाव में बुझने को था वह पुनः श्रमणत्व का स्नेह पाकर अत्यधिक प्रज्वलित हो उठा। अध्यवसाय पुनः विशुद्ध बनने लगे। आर्त्त-रौद्र ध्यान से धर्म और शुक्ल ध्यान में अवस्थित हो गए और पुनः ऊंचाई की ओर बढ़ने लगे।

महाराज श्रेणिक अभी भी प्रश्नों से विरत नहीं हो पा रहे थे। उनका मन संदेहों में झूल रहा था। उन्होंने पूछा—भगवन्! पहेली उलझ गई है। यदि राजर्षि अब आयुष्य पूरा करें तो कहां जाएंगे?

भगवान् ने कहा—पहले स्वर्ग में।

राजा का मन आश्वस्त हुआ। उन्होंने आगे प्रश्न पूछे और भगवान् दूसरे, तीसरे स्वर्ग की उद्घोषणा करते गए। मुनि प्रसन्नचन्द्र ने कुछ ही क्षणों में उस ऊंचाई को पा लिया जहां जाने पर न कोई पतन और न कोई फिसलन। वे गुरुत्वाकर्षण की परिधि से मुक्त हो गए। अन्त में भगवान महावीर ने उद्घोषणा करते हुए कहा—राजन्! राजर्षि केवलज्ञान को उपलब्ध हो गए हैं, सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गए हैं।

यह सुनकर राजा श्रेणिक को किंचिद् आश्चर्य और प्रसन्नता मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। वे समझ नहीं सके कि जो मुनि कुछ समय तक सप्तम नरक की भूमिका का अधिरोहण कर रहे थे पुनः कैसे केवलज्ञान तक पहुंच गए? भगवान् ने उनकी गुत्थी को सुलझाते हुए कहा—श्रेणिक! चढ़ने-उतरने के लिए दो सोपानमार्ग नहीं होते। जिन सीढ़ियों से नीचे उतरा जा सकता है उन्हीं सीढ़ियों से ऊपर भी चढ़ा जा सकता है। तुम्हारे आने के पश्चात् कोई व्यक्ति वहां आया। उसने राजर्षि को बुरा-भला कहा। सहसा वे विचलित हो गए और अपने ही

मलिन अध्यवसायों के कारण सातवें नरक तक पहुंच गए। पुनः किसी अन्य व्यक्ति ने उनके श्रामण्य की श्लाघा करते हुए गुणानुवाद किया। उनकी मूर्च्छा टूटी और वे पुनः श्रामण्य की ओर लौट आए। उसके पश्चात् उनके निरन्तर विशुद्धतम अध्यवसाय बनते चले गए और वे केवलज्ञान की भूमिका तक पहुंच गए, सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गए।

निर्ग्रन्थ प्रवचनकार ने गुनगुनाया—**'पुरुष! आस्रवण और संवरण तेरे भीतर है।'**

९. कृत का प्रायश्चित्त

सान्ध्य की गोधूली वेला। अंशुमाली अस्ताचल को जा चुका था। निशा की तमिस्रा शनैः शनैः आगे बढ़ रही थी। गगन-मंडली पर एकछत्र साम्राज्य करते हुए नन्हे-नन्हे तारे मानो सूर्य की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर टिमटिमा रहे थे। कुमुदिनीपति अपनी शैशवास्था में ही विद्यमान था।

सहसा किसी ने बाहर से दरवाजा खटखटाया। भीतर से आवाज आई, कौन है? अपरिचित स्वर में प्रत्युत्तर मिला—'मैं एक पथिक हूं, रात बसेरा करना चाहता हूं।' ब्राह्मणदम्पती का सुकोमल अन्तःकरण आतिथ्यसत्कार के लिए उमड़ पड़ा। एकाएक घर का कपाट खुला और उस अपरिचित व्यक्ति ने घर में प्रवेश किया। चेहरे से बिल्कुल अज्ञात और अपरिचित होने पर भी वह अपने सुपरिचित नाम से न जाने कितने व्यक्तियों से परिचित था। उसकी क्रूरता की कहानी लोगों की जुबानी थी। वह अपने नाममात्र से ही लोगों को आतंकित और रोमांचित करने वाला था। अपने द्वारा किए गए काले कारनामों से ही वह देश का एक महान् और खूंखार डाकू बन गया। उसकी तलवार हमेशा शोणित से सनी रहती थी। किसी के प्राणों का व्यपघात करना उसके लिए सहज और सामान्य कार्य था। वह राहगीरों को लूटने, किसी के यहां डाका डालने और सेंध लगाने में तनिक भी संकोच नहीं करता था। दूसरों की आंखों में धूल झोंकने में जितना प्रवीण तो भागने में उतना ही निपुण। लज्जा, दया और करुणा तो मानो कभी के ही उसके अन्तःकरण से निकल चुके थे। वह हृदयहीन आततायी किसी पर दृढ़ प्रहार करने में कभी नहीं चूकता था और न ही उसका प्रहार कभी खाली जाता था, इसलिए अपनी इस दक्षता के कारण वह लोगों में 'दृढप्रहारी' के नाम से विश्रुत हो गया। यद्यपि वह जन्मना ब्राह्मण था, किन्तु अपनी कुसंगति के कारण डाकू बन गया। उसी के कारण आज वह

दर-दर की खाक छान रहा था। उसका जीवन सातों ही व्यसनों में धुत था। उन दुर्गुणों ने ही सारे परिवार तथा समाज को संक्षुब्ध और उत्पीड़ित किया। जिसका परिणाम यह हुआ कि उसे एक दिन समाज और परिवार से तिरस्कृत होकर अलग होना पड़ा और वह घूमता-फिरता हुआ दस्युगिरोह में जा मिला। पल्लीपति ने उसके अद्‌भुत शौर्य-पराक्रम और साहसिक कार्यों को देखकर एक दिन उसे समस्त गिरोह का नेता बना दिया। आज वह अपने साथियों के सहयोग से कुशस्थल ग्राम को लूटकर, प्रचुर सम्पदा का अपहरण कर देवशर्मा ब्राह्मण के घर विश्राम कर रहा था। जिसके विषय में न जाने कितनी किंवदन्तियां लोक में प्रचलित थीं, रोते हुए शिशुओं को जिसका नाम लेकर चुप कराया जाता था और जिसकी क्रूरता ब्राह्मण की जीभ पर नाच रही थी और आज वही दस्यु-सम्राट् उसी घर में ठहरा हुआ आतिथ्य-सत्कार स्वीकार कर रहा था। विप्रवर देवशर्मा ने कभी सोचा ही नहीं कि ऐसी असंगति भी जीवन में आ सकती है। विधि के विधान में न जाने कितने रंग होते हैं, उनको जानना-पहचानना कभी-कभी बुद्धि से भी परे होता है। इस अपरिचय और अनभिज्ञता के कारण ही कभी-कभार जीवन में अकल्पित और अतर्कित अनर्थ घटित हो जाते हैं।

वह विप्रवर आज उस अपरिचित को अपने घर में स्थान देकर जाने-अनजाने अपने ही हाथों विषधर को पाल रहा था और अनायास ही मौत को बुला रहा था। रात्रि की सुखदवेला व्यतीत हुई। प्रभात का उजाला नवजागरण का संदेश देता हुआ प्रसृत हुआ। ब्राह्मण ने आज प्रातराश के लिए अपने घर में खीर बनवाई थी। उसमें वह अपरिचित व्यक्ति भी सादर आमंत्रित था। वह स्वादिष्ट खीर विशेषकर घर के बच्चों के लिए रुचिकर और मनोज्ञ तो थी ही, किन्तु उस अनभिज्ञ पुरुष के लिए भी कम मनोज्ञ और रुचिकर नहीं थी। लम्बे समय के पश्चात् उसे ऐसा भोजन खाने और देखने का अवसर मिल रहा था। बच्चे उस प्रातराश के लिए जितने आतुर थे उतना ही आतुर था वह दस्युसम्राट्। वह मन ही मन सोच रहा था कि कब मुझे वह खीर मिले और कब मैं यहां से विदा लूं। एक ओर उसे राजपुरुषों द्वारा पकड़े जाने का मन में भय व्याप्त था तो दूसरी ओर रसलोलुपता के कारण वह गृद्ध बना हुआ था। दृढ़प्रहारी अपने उतावलेपन को रोक नहीं सका और सहसा रसोईघर में जाकर खीर के बर्तन के पास बैठ गया। उसका इस प्रकार अचानक आना और बैठना ब्राह्मणी को शिष्टाचार के नाते अच्छा नहीं लगा। कोई भी सभ्य और शिष्ट व्यक्ति ऐसा कर नहीं सकता, किन्तु दृढ़प्रहारी इस मामले में बिल्कुल शून्य था। जिसका

सारा जीवन असभ्य लोगों के बीच बीता हो, सामाजिकता तथा शिष्टाचार का लवलेश जिसे कभी छुआ ही न हो और मारना-काटना ही जिसका दिन-प्रतिदिन का धन्धा हो वह व्यक्ति सामाजिक और सभ्य बने, कैसे संभव हो सकता था? ब्राह्मणी ने उससे कुछ अतिरिक्त ही अपेक्षा रखी। वह व्यक्ति को पहचान नहीं सकी और मधुर उपालम्भ देती हुई बोल उठी—अरे! महानुभाव! तुमको इतनी शीघ्रता क्या है? कुछ तो हमारी कुल की मान-मर्यादा का भी ध्यान रखते। बिना निमंत्रित इस प्रकार आना और बैठना क्या तुम्हारी असभ्यता नहीं हैं? भोजन तो तुम्हें मिल ही जाता, फिर एकाकी यहां चले आना तुम्हारी कौन-सी शोभा है?

ब्राह्मणी द्वारा कहे हुए वे सहज और सामान्य शब्द भी दृढ़प्रहारी को तीर की भांति चुभ गए। उस चुभन से उसका अन्तःकरण मानो एक साथ ही आन्दोलित, विचलित और व्यथित हो उठा। शब्दों का ईंधन पाकर भीतर ही भीतर छिपा हुआ क्रोध का दावानल सुलग पड़ा। सुप्त अहंकार बोल उठा—अरे! मुझे कहने वाला कौन? एड़ी से चोटी तक एक प्रकार की सिहरन-सी कौंध गई। जीवन में कोई कहने-सुनने वाला भी है, इसका अनुभव उसे आज प्रथम बार ही हो रहा था। अभी तक उसने यही सोचा था कि उसके सामने मुंह खोलने वाला है ही कौन? उसका वह स्वाभिमान आज चूर-चूर होकर स्वयं को ही नीचा दिखा रहा था। प्रतिशोध की चिनगारियां अन्तःकरण में प्रज्वलित हो उठीं। आंखों में लालिमा और चढ़ी हुई भृकुटी उस अपमान को कैसे सहन कर सकती थी? सहसा खून की प्यासी तलवार ने ब्राह्मणी का सिर धड़ से विलग कर दिया। एक करुण चीत्कार बाहरी वातावरण को चीरती हुई वायु में सिमट गई। ब्राह्मण घर के बाहर स्नान कर रहा था। उसने पत्नी की चीत्कार सुनी। चीत्कार सुनते ही वह भीतर की ओर दौड़ा और खून से लथपथ पत्नी का शरीर देख स्तंभित रह गया। वह कुछ भी प्रतिकार करे उससे पूर्व ही दस्युसम्राट् ने उसे भी अपनी रक्तप्यासी तलवार से यमलोक पहुंचा दिया। इस करुण दृश्य को देखकर घर के बच्चे रोते-बिलखते अपनी रक्षा के लिए इधर-उधर दौड़ने लगे। इस भगदड़ को देखकर घर के प्रांगण में बंधी हुई गर्भवती गाय चौंक उठी और दोनों सींग उठाकर उस अपरिचित व्यक्ति को मारने दौड़ी। वह खूंखार व्यक्ति उस निरीह पशु को भी कैसे छोड़ सकता था? उसने एक ही प्रहार में गर्भस्थ शिशु को बींधते हुए उस गाय को भी मौत के घाट उतार दिया। एक ओर उसके सामने ब्राह्मण और ब्राह्मणी का शव पड़ा था तो दूसरी ओर गाय और उसका तड़पता

हुआ शिशु अन्तिम श्वास ले रहा था। एक ओर बहता हुआ खून अपनी रक्तिमा से क्रूरता की गाथा गा रहा था तो दूसरी ओर उस निरीह प्राणी का अपने स्वामी के प्रति बलिदान बोल रहा था। उन दोनों के बीच अन्यमनस्कता से खड़ा-खड़ा दृढ़प्रहारी दोनों दृश्यों को देख रहा था। इस हृदयद्रावक दृश्य को देखकर कोई भी व्यक्ति दो बूंद आंसू बहा सकता था और इस निर्दयतापूर्ण घटना से किसी का भी पाषाण हृदय द्रवित हो सकता था। दस्युसम्राट् की आंखों की अरुणिमा इस रक्तरंजित तलवार के सामने फीकी-फीकी लग रही थी, चढ़ी हुई भृकुटी मानो मन ही मन अपने दुष्कृत्य पर फूली नहीं समा रही थी। क्रूरता अपनी चरम सीमा तक पहुंच कर कराह उठी। अन्तर्मानस में कुछ रासायनिक परिवर्तन हुआ। क्रोध और अहंकार की आंधी तब तक उपशान्त हो चुकी थी। विवेक चक्षु ने जब अपने आपको देखा तो उसने अपने भीतर तामसिक और आसुरीवृत्तियों को पाया। महादस्यु का कभी नहीं पसीजने वाला क्रूर और पाषाणहृदय आज इस कारुणिक और भयंकर दृश्य को देखकर सहसा द्रवित हो उठा। जिसने अपने जीवन में सैकड़ों हत्याएं कीं, कभी मन पर प्रतिक्रिया नहीं हुई, किन्तु आज इन हत्याओं से सचमुच उसका अन्तःकरण रो रहा था। चेहरे पर पश्चात्ताप की रेखाएं उभर आईं। उसने सोचा—अरे! जिस घर का मैंने अन्न-जल और नमक ग्रहण किया क्या आज मैं पूरे परिवार की हत्या कर नमकहराम नहीं बन गया हूं? जिसने मुझे अतिथि मानकर उदारचित्त से रहने के लिए स्थान दिया, क्या मैंने उस उपकार का बदला कृतघ्न बनकर नहीं चुकाया है? मैं इतना असहिष्णु कि छोटी-सी बात को भी सहन नहीं कर सका। मैं जिसे मार रहा हूं, क्या वह मैं स्वयं नहीं हूं? धिक्कार है मेरी इस कृतघ्नता को। धिक्कार है मेरी खलता और दुष्टता को, जिसने कितने लोगों को पीड़ित किया। हाय! मैं कितना नराधम और नरपिशाच हूं? मैंने कितने निरपराधप्राणियों की हत्याएं कीं, कितनी अबलाओं का सुहाग लूटा, कितने जनों को बेघरबार किया और न जाने अपने स्वार्थ के लिए कितने लोगों को सताया। उन अपराधों के लिए मुझे कौन माफ करेगा? क्या मैं स्वयं उन सबके लिए उत्तरदायी नहीं हूं? क्या मैं उन दुष्कृत्यों के बोझ से दबा नहीं जा रहा हूं? उनसे उबरने का उपाय क्या हो सकता है? सहसा मन में चिन्तन आया कि कहीं पर्वत की कन्दराओं और जंगल में चला जाऊं, अपने आपमें समाधिस्थ हो जाऊं। स्वतः ही मैं बन्धनमुक्त हो जाऊंगा। पुनः चिन्तन बदला और सोचा—नहीं, नहीं, ऐसा करना स्वयं की कायरता है, दुर्बलता है और जिन लोगों को मैंने सताया, पीड़ित किया और नानाविध कष्ट दिए वे सब लोग तो नगर में ही रहते हैं। मुझे अपने कृत का

प्रायश्चित्त उन्हीं लोगों के बीच रहकर करना चाहिए। वे लोग मुझे देखकर बदला लेंगे। वहां मुझे समता से उन सब कष्टों को सहन करने का अवसर मिलेगा।

ऐसा सोचकर निर्वेदरस में निमग्न दृढ़प्रहारी नगर की ओर बढ़ चला। नगर से बाहर आने-जाने के चार मुख्यद्वार थे। महादस्यु पूर्वदिशाभिमुख द्वार के समीप ध्यानस्थ होकर खड़ा हो गया। उस दिशा से आने-जाने वाले लोग एकाएक उस खूंखार डाकू को देखते और प्रतिशोध की भावना से उस पर उबल पड़ते। कोई कहता—यह दुष्ट ही मेरे पिता का हत्यारा है तो कोई कहता इसने ही मेरा सर्वस्व लूटा है। कोई उस पर भाई का खून करने का आरोप लगाता तो कोई उसे ढोंगी साधु कहकर अपमान करता। कोई उसे सुहाग लूटने वाला बताता तो कोई आते-जाते उस पर पत्थर फेंक देता। कोई हाथ और लाठी से उस पर प्रहार करता तो कोई दो-चार गालियां सुनाकर निकल जाता। दृढप्रहारी उन सब यातनाओं को समतापूर्वक सहन करता हुआ अपने दुष्कृत्यों को विफल कर रहा था और मन ही मन सोच रहा था कि मैंने जिन दुष्कर्मों का संचय किया है उन्हें तो एक दिन भोगना ही होगा। उनको बिना भोगे छुटकारा ही कहां है? कर्म मेरे लिए विजातीय पदार्थ हैं, मेरी पवित्रता को आच्छादित करने वाले हैं। उनको दूर किए बिना आत्मा की मलिनता किस प्रकार दूर होगी? मैं किस प्रकार शुद्ध चैतन्य को उपलब्ध हूंगा? न जाने मेरे पर कितने दुष्कृत्यों का ऋण है? यह अच्छा अवसर आया है कि मैं अपने आप उऋण हो रहा हूं और अपने किए हुए का ऋण चुका रहा हूं। उसके सामने एक ही लक्ष्य था कि मुझे अपने कृत का प्रायश्चित्त करना है। वह डाका डालने और हिंसा करने में जितना पराक्रमी था, उतना ही शूरवीर था अपने ऋण से मुक्त होने में। लोगों द्वारा अवमानना, अवहेलना, भर्त्सना, ताड़ना आदि देने पर भी कभी उसने अपने समत्व को खंडित नहीं किया। छह महीनों तक उसने घोर कष्टों को सहा। पश्चिम उत्तर और दक्षिण दिशा में स्थित सभी द्वारों पर उसने ध्यानावस्थित होकर इसी प्रयोग को किया। अन्त में धीरे-धीरे लोगों का क्रोध उपशान्त हुआ। वे वस्तुस्थिति को जानने लगे। दृढ़प्रहारी का बदला हुआ अन्तःकरण देखकर लोगों का भी अन्तःकरण बदला। अब वे उसे महादस्यु से महामुनि के रूप में देखने लगे और उनकी सहनशीलता और समत्व के प्रति झुकने लगे। इस प्रकार वीतरागता की साधना करता हुआ महादस्यु एक दिन वीतराग बन गया और सब कर्मों को क्षीण कर सिद्ध-बुद्ध और मुक्त बन गया।

१०. दृढ़धर्मी अर्हन्नक

प्रभात की ब्राह्मी वेला। जन-जन को प्रबोधित करता हुआ दिनमणि क्षितिज के वातायन से झांक रहा था। रक्तिमा को धारण करती हुई दसों दिशाएं अपनी मांग में सिन्दूर भरने का अभिनय कर रही थीं। मांगलिक समय, मंगलमय यात्रा की तैयारियां। श्रेष्ठिप्रवर आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर कुछ समय पूर्व अपने आसन पर बैठे ही थे कि श्रेष्ठिपुत्र अर्हन्नक ने कमरे में प्रवेश किया, चरणों में प्रणत होता हुआ बोला—'पिताश्री! प्रस्थान का समय निकट है, आप कर्त्तव्यबोध और शुभाशंसा से मुझे अनुगृहीत करें, जिससे मेरी यात्रा सानन्द और निर्विघ्न सम्पन्न हो सके।' पिता ने पुत्र को छाती से लगाते हुए कहा—'वत्स! तू स्वयं ही समझदार है, साहसी है, तुझे कुछ कहना आवश्यक प्रतीत नहीं होता, फिर भी मार्ग लम्बा और सामुद्रिक है, उसमें अन्यान्य खतरे भी बहुत हैं, इसलिए सावधानी और जागरूकता की नितान्त अपेक्षा है। संभवतः तुझे अपने गंतव्य तक पहुंचने में दस दिन का समय तो लग ही जाएगा। तूने अपनी आवश्यकता के लिए और संबल तो जुटाए ही हैं, किन्तु मनोबल को बढ़ाने वाले संबलों पर विशेष ध्यान देना। देव-गुरु-धर्म के प्रति दृढ़ आस्था रखना, धार्मिक अनुष्ठानों की सम्यक् आराधना करते रहना।' अन्त में पिताश्री ने विनोद करते हुए कहा—'और नहीं तो समय-समय पर अपने वयोवृद्ध माता-पिता को ही याद कर लेना।'

पुत्र ने पिता के कथन पर कुछ लज्जा का अनुभव करते हुए धीमे से कहा—मैं आपको विस्मृत ही कैसे कर सकता हूं? जो जिसके हृदय में स्थित है, क्या कभी वह उससे विलग हो सकता है? पिता-पुत्र की परस्पर वार्ता चल ही रही थी कि इतने में मां, भाई-बहन आदि परिवार के अन्य सदस्य भी वहां उपस्थित हो गए। प्रस्थान की वेला अब अत्यन्त निकट आ चुकी थी। लगभग

अर्धघटिका का समय ही अवशेष था। जहाज में माल का लदान किया जा चुका था। अर्हन्नक के साथ जाने वाले अन्य सांयात्रिक भी अपनी तैयारी के साथ आ चुके थे।

समुद्रतट पर बसा हुआ चम्पापुर अपनी सुरम्यता और विशालता के कारण जन-जन के लिए आकर्षण-बिन्दु बना हुआ था। अंग जनपद के अधिपति महाराजा चन्द्रछाया इस नगर के अनुशास्ता थे। उसका पड़ोसी देशों के साथ अच्छा व्यापारिक सम्बन्ध था। समुद्रतट पर स्थित होने के कारण चम्पानगर एक सुप्रसिद्ध बन्दरगाह भी था। प्रतिदिन यहां अनेक जलपोत दूसरे देशों से माल लेकर आते और पुनः यहां से माल को भरकर सुदूर देशों में चले जाते थे। इस प्रकार यह नगर माल के आयात-निर्यात का संगमस्थल बना हुआ था।

प्रस्थान से पूर्व कुमार अर्हन्नक ने एक-एक कर परिवार के सभी सदस्यों को प्रणाम किया और पुनः आकर माता-पिता के चरणों में प्रणत हो गया। माता-पिता ने पुत्र को बांहों से उठाते हुए अपनी छाती से लगा लिया और गद्‌गद होते हुए अश्रुपूरित नेत्रों से कुमार को विदा दी। श्रमणोपासक अर्हन्नक का जहाज जन-माल को लेकर अपने गन्तव्य की ओर रवाना हुआ। अर्हन्नक को पहुंचाने आने वाले कौटुम्बिकजन तथा अन्य साथी टकटकी लगाए जहाज को देखे जा रहे थे। जहाज अब उनकी आंखों से ओझल हो चुका था। अतीत की स्मृतियां मात्र ही अब उनके लिए शेष बची थीं। अब वे अन्यमनस्कता से पुनः अपने घर लौट रहे थे। वह समुद्री जहाज उस महासिन्धु की छाती को चीरता हुआ अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहा था। चारों ओर जल ही जल। भूमि का कहीं कोई छोर नहीं दिख रहा था। सर्वत्र जल को देखकर लगता था कि मानो सारा भू-मंडल सिमटकर इस अथाह जलराशि में समा गया है। मन को लुब्ध करने वाली पानी की नीलिमा मानो आंखों को इस प्रकार प्रीणित कर रही थी कि सारी अध्यात्म की गहराई इस महासागर में ही समा गई हो। ऊपर स्वच्छ आकाश तो नीचे पानी की गहराई। एक ओर जलमग्न जलचर पक्षी तो दूसरी ओर कल्लोल करती हुई समुद्र की लहरें। एक ओर जलनिधि का महारव तो दूसरी ओर सनसनाहट करता हुआ पवन-वेग। मौसम बड़ा सुहावना प्रतीत हो रहा था। जहाज में बैठे सभी यात्री इस प्राकृतिक दृश्य को देखकर परस्पर आमोद-प्रमोद कर रहे थे। कोई मन ही मन गुनगुनाए जा रहा था तो कोई मनोरंजक कहानियां सुना रहा था। कोई अपनी सुख-दुःख की बात बता

रहा था तो कोई मौनी होकर बाहरी वातावरण को देख रहा था। कोई शतरंज आदि आदि खेलने में लगा हुआ था तो कोई गोठ मनाने में ही व्यस्त था।

एक लम्बा अन्तराल बीत चुका था। दिनभर की थकावट से आंखें निद्रा से घूर्णित हो रही थीं। किसी ने नाविक से पूछा—भद्र! हम चम्पापुर से कितनी दूर आ गए हैं? नाविक ने कहा—महानुभाव! अभी हमने एक चौथाई रास्ता ही पार किया है, लगभग तीन चौथाई मार्ग और चलना है। संध्या ढलने को है। आप चाहें तो कुछ समय पश्चात् विश्राम कर सकते हैं। अभी हमें सूर्यास्त होने का भी दृश्य देखना है। उस मनोरम दृश्य की उत्कण्ठा से सहसा सभी के मन झूम उठे। समय की प्रतीक्षा ही थी कि एकाएक एक छोटे से बादल ने सूर्य को अपने आवरण से ढक लिया। देखते-देखते सारा व्योममार्ग बादलों से भर गया। चारों ओर काली-काली घटाएं उमड़-घुमड़ आईं। दिन का प्रकाश दुर्दिन से लुप्त होने लगा। बादलों का भयंकर गर्जारव, बिजली की चमचमाहट और वर्षा अपना भयंकर तांडव कर रही थी। समुद्र में भयंकर तूफान उठ चुका था। उसकी चपेट से बचने के लिए कहीं कोई ऐसा टापू नहीं था कि जहां लंगर डाला जा सके। सभी यात्री इसी उधेड़बुन में थे कि इतने में एक बीभत्स आकृति को उन्होंने उभरते हुए देखा। वह विशाल आकृति अट्टहास करती हुई द्रुतगति से जहाज की ओर लपक रही थी। इस अकल्पित और अप्रत्याशित दृश्य से यात्रियों का अन्तःकरण भय से कांप उठा। एक-दूसरे का मुंह देखते हुए वे अकर्मण्य की भांति स्थित थे। भय के कारण एक-दूसरे का आश्लेष करते हुए भीतर ही भीतर सटे जा रहे थे। चारों ओर विपत्ति का पहाड़ टूट चुका था। बचने का कोई उपाय नहीं था। अपने जीवन की रक्षा के लिए कोई अपने कुलदेव की मनौतियां मना रहा था तो कोई अपने इष्टदेव का स्मरण कर रहा था। कोई अपने भगवान् को भोग चढ़ाने का संकल्प ले रहा था तो कोई तीर्थाटन करने की प्रतिज्ञा कर रहा था। श्रमणोपासक अर्हन्नक स्थिति को भली-भांति समझ चुका था। इस भयंकर उपसर्ग से निपटने के लिए उसके सामने धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प विद्यमान नहीं था। कुमार अर्हन्नक जहाज के एक कोने में अप्रकम्पित और अविचलभाव से कायोत्सर्गमुद्रा में प्रतिसंलीन हो गया। उस कुरूपव्यक्ति का अट्टहास वातावरण को रौद्र बना रहा था। उसकी उपस्थिति जहाज में स्थित लोगों को भयाकुल और उद्विग्न कर रही थी। उसने जहाज के समीप आते ही अपनी रौद्रता दिखाते हुए पोतवणिकों से कहा—यदि तुम सुख से जीना चाहते हो

तो अपना धर्म छोड़ दो, अन्यथा असमय में मृत्युवरण के लिए तैयार हो जाओ। मैं जहाज को अभी समुद्र में डुबोता हूं। एक स्वर में बोलो—हम धर्म को छोड़ते हैं।

मौत का नाम सुनते ही चारों ओर हाहाकार मच गया। एकाएक मौत के भय से सभी रोमांचित हो उठे। जान-बूझकर मौत के मुंह में जाना किसे अभीष्ट हो सकता था? सभी एक स्वर में कह उठे—देवानुप्रिय! आप ऐसा न करें, हम सब धर्म-कर्म को तिलांजलि देते हैं और अभी-अभी आपकी साक्षी से समुद्र के प्रवाह में अपने धर्म को विसर्जित करते हैं।

'नहीं, तुम सभी कहां सहमत हो? कुमार अर्हन्नक क्या कहता है?'

सहसा साथियों ने कुमार अर्हन्नक की ओर देखा। वह तो अभी भी निर्भीक और शान्तमुद्रा में कायोत्सर्ग-प्रतिमा में तल्लीन था। वह मौत से डरने वाला कब था, मौत उससे डर चुकी थी। वह मौत से मरने वाला कब था, मौत उससे मर चुकी थी। कुमार का अन्तर्मानस बोल रहा था कि धर्म कोई वस्त्र नहीं है जिसे इच्छा होने पर पहना और उतारा जा सके। धर्म कोई शिरस्त्राण नहीं है जिसे इच्छानुसार धारण किया या बदला जा सके। वह तो जीवन का सनातन अंग है, फिर सनातन को कैसे छोड़ा जा सकता है?

कुमार के साथी अर्हन्नक की मौन-भंगिमा से झुंझला रहे थे। कोई उसे मन ही मन कोस रहा था तो कोई उसे दृढ़धर्मी और दुराग्रही बता रहा था। कोई बार-बार उसे समझाने का प्रयत्न कर रहा था तो कोई उसे कायोत्सर्ग से विचलित करने का उपक्रम कर रहा था। कुमार अर्हन्नक सभी चेष्टाओं और प्रभावों से मुक्त होकर कायोत्सर्ग प्रतिमा में प्रतिष्ठित था। बाहरी प्रतिक्रिया उसके अन्तर्जगत् को छू नहीं सकी।

पोतवणिक् पुनः एक बार जीवन की भीख मांगते हुए कातरस्वर में बोल उठे—देवानुप्रिय! यदि एक कुमार अर्हन्नक नहीं मानता है तो उसे मरने दें, हमें उससे क्या, पर हमको उसके पीछे प्रतिबन्धित क्यों करते हैं? देखता हूं कि वह कैसे नहीं मानता, भयावह आकृति ने तमतमाते हुए कहा। उसने अर्हन्नक को ललकारा—ओ दुष्ट! बस, बहुत हो गई तेरी दृढ़धर्मिता। क्या अभी भी इसी प्रकार बैठा रहेगा? लगता है तू स्वयं तो मरने वाला है ही, किन्तु तेरे ये साथी भी बिना मौत मारे जाएंगे। इतना कुछ कहने पर भी इतना ढीठ, कुछ भी असर नहीं। अब इसका परिणाम भी शीघ्र देख ले। इतना कहते ही उस दैत्य ने उस विशाल जहाज को आकाश में उठाया और उसे कुम्हार के चाक की भांति

घुमाने लगा। कुछेक यात्री इस भयावह दृश्य के कारण मूर्च्छित हो गए और कुछेक भय से कांपते हुए करुण क्रन्दन करने लगे। आज उनके प्रति सहानुभूति करने वाला और करुण विलाप को सुनने वाला कोई नहीं था। उनकी चीत्कार बाहरी बातावरण में अर्थशून्य और अकिंचित्कर-सी लग रही थी। कुमार अर्हन्नक अभी भी निश्चल और भयमुक्त स्थिति में था। बाहरी वातावरण का उस पर किंचित् भी प्रभाव नहीं था। उसकी दृढ़धर्मिता और मनोबल के सामने उस दैत्य को भी अन्त में पराजित होना पड़ा। उपसर्ग को उपशान्त जानकर अर्हन्नक ने ध्यान को पूरा किया। दैत्य ने जहाज को समुद्र में अवस्थित कर स्वयं को प्रकट करता हुआ बोला—मैंने तेरा जैसा परिचय सुना था तू उसी के अनुरूप है और तू अपनी परीक्षा में सफल हुआ है। धन्य है तेरे धर्म को और धन्य है तेरी दृढ़धर्मिता को। सारे पोतवणिक् स्वयं को सकुशल जानकर कुमार अर्हन्नक की श्लाघा करते हुए गाने लगे—'**धर्म से बड़ा न कोई और।**'

११. उदय : अस्त

यह लोक विपरिणामधर्मा है। इसमें प्रतिक्षण कुछ न कुछ परिवर्तन हो रहा है। परिवर्तनशीलता इस लोक की शाश्वत घटना है। जड़ में भी परिवर्तन हो रहा है और चेतन में भी परिवर्तन हो रहा है। पर उस परिवर्तन से बोधपाठ लेने वाला कोई विरला ही होता है। जैन रामायण का प्रसंग है। मर्यादा- पुरुषोत्तम भगवान् राम चौदह वर्षों का वनवास पूरा कर अयोध्या लौटे। सारा नगर खुशियों से झूम उठा। घर-घर में घी के दीए जलाए गए। भगवान् राम का राज्याभिषेक हुआ। इस खुशी में सभी को कोई न कोई उपहार मिला। किसी को राज्यसत्ता तो किसी को बन्धनमुक्ति। किसी को प्रभुसेवा का अनुग्रह तो किसी को दुःख-विमुक्ति का वर। किसी के लिए सुख-साम्राज्य का द्वार खुला तो किसी को उपलब्ध हुईं ऐश्वर्य-सम्पदा। विभीषण और रामभक्त हनुमान भी उससे कैसे वंचित रह सकते थे? उन्हें भी अपना-अपना अधिकृत क्षेत्र प्राप्त हो गया। महाराजा विभीषण लंका के शासक बने तो पवनसुत हनुमान आदित्यपुर नगर के। सभी प्रसन्नमना अपने-अपने राज्य का कुशल संचालन कर रहे थे।

एक बार हनुमान की रानियों के मन में सुमेरु पर्वत पर क्रीड़ा करने का विकल्प उत्पन्न हुआ। वे अपनी भावनाओं को रोक नहीं सकीं। उन्होंने अपनी प्रार्थना को रामभक्त हनुमान के समक्ष रखा। उन्होंने उनकी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और विमान में बैठकर यात्रा के लिए प्रस्थित हो गए। उनका सारा दिन क्रीड़ा-उत्सव में व्यतीत हुआ। पुनः शाम को लौटने की तैयारियां होने लगीं। सभी रानियां इस क्रीड़ामय दिवस की स्मृति को संजोती हुई विमान में आरूढ़ हुईं और वह विमान आदित्यपुर की ओर चल पड़ा। संध्या का समय। सूरज की सुनहली किरणें अपने आपमें सिमटती हुई दृग्गोचर हो रही थीं। सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा था। पक्षीगण अपने-अपने घोंसलों की ओर लौट

रहे थे। निशा की पूर्व सूचना संध्या के बादलों में आ चुकी थी। सहसा इस दृश्य को देखकर हनुमान के अन्तर्मानस में एक विचित्र प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न हो गई। उन्हें प्रकृति के इस वातावरण से अनायास ही एक बोधपाठ मिल गया। उन्होंने मन ही मन सोचा—अरे! क्या इस लोक का यही स्वरूप है? जो आता है क्या वह एक दिन अवश्य जाता है? जो सूर्य प्रभातकाल में इस लोक को प्रकाशित कर रहा था, अपनी तेज अरुणाभ-रश्मियों को बिखेर रहा था, क्या वह संध्या के समय इस प्रकार आलोकशून्य और दीप्तिविहीन बन गया? सभी प्राणी इस लोक में एक दिन उदित होते हैं और पुनः अस्त हो जाते हैं। क्या उदय अस्त से संवलित है? ओह! महान् प्रतापी सूर्य भी अस्त हो रहा है? क्या मुझे भी इस प्रकार अस्त होना पड़ेगा? उन्हें स्वयं के प्रश्न का समाधान स्वयं प्रकृति से मिल रहा था। सहज ही मन वैराग्य से भर गया? अब उन्हें उदय-अस्त की परम्परा से बंधे रहना असह्य लगने लगा। वे चाहते थे अब उस शाश्वत सुख और उस अवस्था को प्राप्त करना, जहां न कभी उदय हो और न कभी अस्त हो। उन्होंने अपना प्रस्ताव रानियों को कह सुनाया। बहुत अनुनय-विनय के पश्चात् भी वे राजसत्ता में लिप्त नहीं हुए। घर आकर उन्होंने राज्य की समुचित व्यवस्था की और स्वयं साधना की संकरी पगडंडियों पर बढ़ चले। पुरुषार्थ का दीपक प्रज्वलित हुआ, गुणस्थानों की भूमिका में आरोहण हुआ और अन्त में वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गए।

१२. अनुराग : विराग

संध्या की वेला। शर्वरी की काली छाया धीरे-धीरे दिन को रात बनाए जा *रही थी। हजारों-हजारों दीपक उसके प्रतिरोध में जल उठे। इलावर्धन शहर के* मध्य एक अद्‌भुत प्रकाश। उमड़ती भीड़। आने वालों का तांता उसे देखकर क्षणभर रुक रहा था। श्रेष्ठी धनदत्त का इकलौता पुत्र इलायचीकुमार। आज वह भी किसी कार्यवश वहां से गुजर रहा था। सहसा भीड़ को चीरकर उसकी दृष्टि सहम गई। चलते पैर ठिठुर गए। भीड़ को चीरकर कुछ आगे बढ़ा। आगे देखा तो नाटक चल रहा था। रूपसीवेश में नट-कन्याएं अपना नृत्य कर रही थीं। लचकती मुद्राएं और थिरकते हुए हाथ-पैर वाद्य-यन्त्रों पर झूम रहे थे। सारी जनता विस्मयातिरेक से उनकी कला देख रही थी। नाटक बड़ा ही बेजोड़ और अद्वितीय था। इलापुत्र उस कला पर न्यौछावर हो गया। विशेषतः एक रूपवती षोडशी नट-कन्या की कला पर। उस षोडशी ने उसके मन को जीत लिया था। उसकी दृष्टि उसी कन्या पर टिकी हुई थी। उसके अंग-प्रत्यंग से लावण्य टपक रहा था और उसकी भावपूर्ण मुद्राएं चित्त को विह्वल बना रही थीं। इलापुत्र यौवन के उस नाजुक मोड़ पर खड़ा था जहां हृदय की उद्दाम कामनाएं प्रदीप्त होती हैं, किसी को अपना बनाया जाता है। नट-कन्या की वह अनुपमेय सुन्दरता और कला उसकी आंखों में ही नहीं, प्रत्युत हृदय में समा गई। मन में सोचा—काश! यह सुन्दरी मेरी जीवन-संगिनी हो जाए तो यह जीवन अपने आपमें मधुमास बन जाए, उसका रंग ही कुछ और खिल जाए। भीतर ही भीतर उस नर्तिका को अपनी बनाने का संकल्प प्रबल हो उठा। फिर क्या था? नवयौवन के छलकते उन्माद और कामनाओं ने इसका पुरजोर समर्थन किया और वह अपने-आप में कृतसंकल्प हो गया।

कार्यक्रम संपन्न हुआ। एकत्रित जनसमूह बिखरा। सबने अपनी-अपनी

राह ली। रात काफी व्यतीत हो चुकी थी। इलायची कुमार सीधा अपने शयन-कक्ष में आया और वेश परिवर्तन किए बिना ही शय्या पर लेट गया। पर निद्रा कहां? मानसिक उद्वेलन और देखा हुआ नृत्यदृश्य बार-बार प्रत्यक्ष हो रहा था। यौवन की चंचल ऊर्मियां भीतर ही भीतर तरंगित हो रही थीं। उसने वह रात करवटों और स्वप्नों में ही बिताई।

प्रभात का दूसरा दिन। अन्तर्मानस में वही उद्वेलन और वही दृश्य। अनमना, उदास और गमगीन चेहरा। न कार्य में रस और न खाने-पीने में रस। वदन पर मायूसी परिलक्षित हो रही थी। सभी कारण किसी सद्यःजनित दुःखद घटना का आभास करा रहे थे। तीसरा और चौथा दिन भी उसी प्रकार बीत गया। कुमार उलझन में पड़ा हुआ था। उसने सोचा—बिना कुछ कहे ऐसा कब तक चलता रहेगा। अन्ततः कुछ उपाय तो खोजना ही होगा। उसने साहस बटोरा और एक दिन अवसर देखकर पिता के पास पहुंच गया। अपनी आन्तरिक कामना को प्रकट करते हुए बोला—पिताश्री! जीवन के आनन्द के लिए एक जीवन-साथी चाहिए, एकाकी जीवन कोई जीवन नहीं होता। किसी के साथ रहने और किसी के साथ जीने में ही मेरा वास्तविक सुख है, फिर उसके चुनाव में भी मेरी स्वतन्त्रता.....। वाणी में कुछ संकोच था, किन्तु कथन अपने आपमें स्पष्ट था।

पिता ने कभी सोचा नहीं था कि मेरा पुत्र भी ऐसा सोच सकता है। परानुशासन से निरपेक्ष स्वतंत्रता की कल्पना कैसे संभव हो सकती थी? पुत्र का कथन पिता पर जले घाव पर नमक का काम कर रहा था। उसने पुत्र से स्पष्ट कहा—'पुत्र! यह सुख-वैभव और अपार सम्पदा सब कुछ तेरे चरणों में लुठने को तैयार है, पर इस बात को कभी मत भूलना कि इस घर में उच्च कुल की कुलीन कन्या ही शोभित होगी। सर्वप्रथम हमें अपनी कुल-परम्पराओं का ध्यान रखना होगा, उसके बाद कुछ और। उसमें तुम्हारी स्वतन्त्रता नहीं चल सकेगी।'

'पिताश्री! जो मेरी बन चुकी है, जिसको मैं अपना सर्वस्व समर्पित कर चुका हूं वह नट-कन्या ही मेरी दृष्टि में सर्वथा उपयुक्त है। वही इस धरती की अनुत्तर सुन्दरी है। मैं उसे अपनी ओर से वरण कर चुका हूं। अब आप मेरे इस निर्वाचन में अपनी सहर्ष अनुमति दें और मेरी भावनाओं का मूल्यांकन करें'—पुत्र ने अपनी बात रखते हुए कहा।

'पुत्र! अभी तुम्हारे में तारुण्य की अंगड़ाई है। तुम रूप और यौवन में

प्रसक्त बने हुए हो। तुम्हारे अन्तःकरण में काम का वेग बह रहा है, इसलिए तुम कुल की अपेक्षा उसी को अधिक मूल्य दे रहे हो। यह तुम्हारे लिए उचित नहीं है। थोड़ा विचारों को परिपक्व बनाओ और पुनः गम्भीरता से सोचो। तुम ऐसा निर्णय लो, जिससे कुल-गौरव भी सुरक्षित रहे ओर साथ-साथ तुम्हारी भी अच्छी लगे'—श्रेष्ठिवर ने उसे समझाते हुए कहा।

पिता की स्नेहिल शिक्षा भी पुत्र को विषाक्त लग रही थी। उसके प्राणों में यौवन का उफान सीमा तोड़ने को उतावला हो रहा था। मूढ़तावश वह अपने ही दुराग्रह में अटका हुआ था। उसने साफ-साफ पिताश्री को कह दिया कि मैं किसी भी स्थिति में संकीर्णता के कटघरे में बंधना नहीं चाहता। प्रेम ही जीवन का सबसे बड़ा धन है। वह सदा विराट् और असीम है। उसे कभी सीमा में नहीं बांधा जा सकता। मैंने जो निर्णय लिया है, वह सर्वथा सम्यक् और मेरे लिए अनुकूल है।

इन दो टूक शब्दों के आगे श्रेष्ठी धनदत्त का कुछ कहना अकिंचित्कर-सा लग रहा था। आज उसकी आशाओं पर पानी फिर गया। स्वप्निल कल्पनाओं के महल ढह गए। जिस पुत्र की चिर-अभीप्सा में ढेर सारी पूजाओं, अर्चनाओं और देव-मनौतियों में समय बिताया, आज वही पुत्र पिता के दिल को दुःखाकर मनमानी कर रहा था। उस आग्रह के कारण उसी दिन वह नट-कन्या के घर पहुंच गया। उसे प्राप्त करने के लिए अपनी मंगल-भावनाएं प्रस्तुत कीं। नट-कन्या का पिता इस प्रस्ताव को एक शर्त पर स्वीकार करने को राजी था। उसने कहा—यदि मेरी कन्या के साथ जीना है तो सबसे पहले तुम्हें नटविद्या सीखनी होगी। इलायची कुमार उसके लिए अपना सब कुछ न्यौछावर करने को तत्पर था, फिर नटविद्या सीखनी कौन-सी बड़ी बात थी? उसने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया और एक दिन माता-पिता और प्रचुर सम्पत्ति—सबको छोड़कर घर से बाहर निकल गया। नटकन्या भी उसके प्रेम और यौवन पर मंत्रमुग्ध हो चुकी थी। दोनों का साहचर्य जीवन में नई अभिव्यक्ति दे रहा था। इलापुत्र बुद्धि-सम्पन्न और कार्यपटु नवयुवक तो था ही। कुछ ही दिनों में वह नटविद्या में दक्ष हो गया। एक दिन उसने अपनी बात को नट के सामने रखा। नट ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा—जिस दिन तुम अपनी कला से महाराजा को प्रसन्न कर पुरस्कार ग्रहण कर लोगे उसी दिन मैं तुम्हारे विवाह-सूत्र की रस्म अदा कर दूंगा।

इलापुत्र अब प्रतिदिन गांव-गांव और शहर-शहर में घूमता, अपनी

कला का प्रदर्शन करता और प्रचुर धन कमाकर लाता। थोड़े ही दिनों में उसकी लोकप्रियता सुदूर देशों तक फैल गई। लोग उसकी अद्‌भुत कला से परिचित हो चुके थे। नटप्रमुख भी उसकी दक्षता को देखकर परम प्रसन्न था। वह उसे स्वतंत्ररूप में भी कार्यक्रम देने लगा। नाट्य-प्रदर्शन के लिए अनेक स्थानों से निमंत्रण आने लगे। एक बार उसे किसी राजा की ओर से निमंत्रण मिला। जीवन में प्रथम बार और नटप्रमुख की शर्त को पूरा करने का उसके लिए यह अपूर्व अवसर था। वह पूरी तैयारी के साथ उस षोडशी कन्या को साथ ले रवाना हुआ।

सम्राट् का भव्य रंगमंच। जनाकीर्ण राजभवन का विशाल प्रांगण। नगर के अनेक गण्यमान्य व्यक्ति अपना आसन ग्रहण कर चुके थे। एक ओर ऊंचे सिंहासन पर महाधिपति अपनी रानियों से सुशोभित थे तो दूसरी ओर सचिव, सामन्त और विशिष्ट सांसद अग्रिम पंक्ति में बैठे थे। सारा वातावरण अगरबत्तियों की खुशबू से महक रहा था। कलारसिक मनुष्य आज इलापुत्र की कला की कसौटी करना चाहते थे। कार्यक्रम ठीक समय पर प्रारम्भ हो गया था। एक से एक अतिरोचक और मनोरंजक कार्यक्रम प्रस्तुत किए जा रहे थे। अन्त में इलापुत्र ने अपना नृत्य प्रारम्भ किया। सिर पर सात गगरियों की एक मीनार और हाथ में जलते हुए दीपों को लेकर उसका नृत्य चल रहा था। पायलों की मधुर झंकार और संगीत वाद्ययन्त्रों पर लयबद्ध चल रहा था। दर्शकगण मन्त्रमुग्ध बने हुए उसे देख और सुन रहे थे। रात्रि का प्रथम प्रहर बीत चुका था। अब इलापुत्र एक अनूठे कार्यक्रम को प्रस्तुत करने जा रहा था। अनेक-अनेक जोखिमों से भरा हुआ और रोमांचकारी। जमीन में गड़ा हुआ एक लम्बा बांस और उसके छोर पर तीक्ष्ण नोकवाली कील पर अटकाई हुई सुपारी। पच्चीस वर्षीय नौजवान इलापुत्र मौत को हथेली में रखकर उस लम्बे बांस पर सरपराहट से चढ़ा। सहसा लोगों का अन्तःकरण कांप उठा। एक प्रकार की बेचैनी और अकुलाहट जन-मानस में व्याप्त हो गई। कुमार ने नाभि को सुपारी पर टिकाकर अपना चक्राकार नृत्य प्रारम्भ किया। उसके दाएं हाथ में चमचमाती तलवार थी तो बाएं हाथ में ध्वजा पकड़ी हुई थी। नीचे मधुर संगीतों की धुनें बज रही थीं तो ऊपर नृत्य की कलाकुशलता झलक रही थी। अपलक नेत्रों से जनता ऊपर की ओर निहार रही थी। कुमार आज दृढ़-संकल्पित था कि वह महाराजा को अपनी कलाकुशलता से प्रसन्न करके ही विश्राम लेगा। लोगों का ध्यान नृत्य देखने में लगा हुआ था तो महाराजा का

ध्यान उस रूपवती नर्तिका में उलझा हुआ था। वे उसके रूप और यौवन पर मोहित हो चुके थे। वे चाहते थे कि इलापुत्र कलाप्रदर्शन करते-करते मौत के मुंह में चला जाए और वह नटकन्या उसे प्राप्त हो जाए।

रात्री का दूसरा प्रहर। इलापुत्र बांस से नीचे उतरा और पुरस्कार प्राप्त करने के लिए राजा के सामने आ खड़ा हुआ। पर राजा उसे कब पुरस्कृत करने वाला था? मन में दुर्भावना घर कर चुकी थी। महीपति ने रूक्षता के स्वर में कहा—कुमार! दुर्भाग्यवश मैं तुम्हारे नृत्य को नहीं देख सका। मेरा ध्यान राज्य-कार्यों में उलझ गया था। यदि तुम उस कला का फिर एक बार प्रदर्शन कर सको....। कुमार पुनः बांस पर चढ़ा और नए उत्साह और जोश के साथ अपनी कला का प्रदर्शन करने लगा। उसकी इस उत्कृष्ट कला को देखकर जनसमूह रोमांचित हो उठा। महारानियां और जनता सभी इस कला से प्रसन्न होकर कुमार को पुरस्कृत करना चाहती थीं, किन्तु पहल कौन करे? जब तक राजा स्वयं संतुष्ट होकर पुरस्कार नहीं देता तब तक दूसरा कौन साहस कर सकता था? कुमार ने नीचे उतर कर पुनः अपनी याचना प्रस्तुत की। राजा के मन में क्रूरता और निष्ठुरता का उदय हो चुका था। वे नहीं चाहते थे कि इलापुत्र मेरा पुरस्कार प्राप्त करे। वे उसे बांस पर ही मरा हुआ देखना चाहते थे। राजा ने कहा—'कुमार नट! एक बार तुम अपना कौशल और दिखाओ।' कुमार का शरीर पसीने से तर-बतर। नृत्यश्रम के कारण अत्यधिक थकावट। नहीं चाहते हुए भी कुमार राजा के अनुरोध को मानकर अपनी कला का पुनः प्रदर्शन करने लगा। अन्य जनता और नटकन्या भी राजा के इस व्यवहार पर क्षुब्ध थी। नृत्य करते-करते प्रभात हो गया। सूरज की किरणें कुमार के मुख का चुम्बन ले रही थीं। सहसा कुमार की दृष्टि सामने एक गृहपति के घर की ओर चली गई। एक मुनि रूपवती गृहिणी के हाथों भिक्षा ग्रहण कर रहे थे। दोनों में यौवन की मादकता छलक रही थी। न कोई मलिनता और न कोई वासना। एकाकी होते हुए भी मुनि नीची नजरों से अपना कार्य कर रहे थे। इस दृश्य को देखते ही इलापुत्र ने मन ही मन सोचा—अरे कितने त्यागी और कितने वैरागी हैं ये मुनि! नवयुवती के सामने होने पर भी कितनी एकाग्रता और कितनी पवित्रता! निश्छलभाव से अपना कार्य किए जा रहे हैं। कहां तो ये महामुनि और कहां मैं? क्या मैं अपनी चंचलता और वासना के कारण इस नटकन्या के पीछे पागल नहीं हो गया हूं? मैं ऐसा क्या रूप का पुजारी कि जिसके पीछे मैंने अपना घर और माता-पिता को भी छोड़

दिया? धिक्कार है मेरी इस कामुकता को, चित्तवृत्ति को। क्या मैं इस मनुष्य-जन्म को रूप के अर्घ्य में ही समाप्त कर दूंगा? नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। कुमार विचारों की शृंखला में अन्तर्मुखी होता चला जा रहा था। कर्मग्रन्थियों को कच्चे धागे की भांति तोड़ रहा था। एक-एक कर उसके ज्ञान के आवरण हटते गए और वह केवलज्ञान की भूमिका तक पहुंच गया, अनुराग के सिंहासन पर विराग जम गया। अब कुमार आत्मा में अवस्थित हो चुका था। थोड़ी देर बाद वह नीचे उतरा, उसने नवोद्भूत ज्ञान को प्रकट किया। कुमार की उस अध्यात्मवाणी से महाराज को अपनी दुर्भावनाओं पर अनुताप हुआ। नृत्य का रंगमंच अध्यात्म-धारा में बदल गया। जनसमूह आकण्ठ उस अध्यात्मधारा में निमज्जन कर रहा था और अनुभव कर रहा था—अनुराग से विराग का आलोक।

१३. मैत्री का आयाम

पर्वाधिराज संवत्सरी का महान् पर्व। जैनपरम्परा का गौरवशाली धार्मिक अनुष्ठान। जन-जन इस धार्मिक पर्व की आराधना कर रहा था। अपने आपको अन्तर्मुखी बनाने का इससे अधिक स्वर्णिम अवसर ही क्या हो सकता था? वर्ष-भर की भूलों का सिंहावलोकन और आत्मालोचन करने का यह अपूर्व दिन था। सबके प्रति मैत्री की भावना कर अपने अन्तःकरण को निःशल्य और हल्का करने का यह महान् प्रयोग था।

सिन्धु-सौवीर के अधिशास्ता महाराजा उद्रायण। आज वह राजकीय कारणों से यात्रा पर गया हुआ था। उसने उज्जयिनी पर आक्रमण किया और अपने प्रतिपक्षी चण्डप्रद्योत को बंदी बनाकर अपनी राजधानी की ओर प्रस्थान कर दिया। चण्डप्रद्योत उज्जयिनी का शक्तिशाली शासक था, किन्तु अपनी तुच्छ वृत्तियों के कारण बदनाम और लोगों की दृष्टि में तिरस्कृत था। वह सदा रूप का उपासक, कामभोगों में लिप्त, कामुक और विलासी था। जब भी उसे कहीं या किसी के द्वारा सुन्दर रूप की भनक पड़ जाती, तत्काल वह उसे प्राप्त करने के लिए दौड़ पड़ता। अपनी इस कामुकवृत्ति के कारण उसने कितनी कन्याओं का अपहरण किया और कितनी कन्याओं के साथ व्यभिचार किया। उसकी वह कामान्धता चरमशिखर पर पहुंच चुकी थी। ऐसी एक नहीं अनेक घटनाएं उसके जीवन साथ के जुड़ी हुई थीं। एक बार उसने कहीं से महारानी मृगावती का चित्र-फलक देख लिया। वह उसके अद्भुतरूप पर मुग्ध हो गया। उसने दूत भेजकर शतानीक से मृगावती की मांग की। शतानीक ने कड़ी भर्त्सना के साथ उसे ठुकरा दिया। चण्डप्रद्योत क्रुद्ध होकर वत्स देश की ओर चल पड़ा। शतानीक घबरा गया। उसके हृदय पर आघात लगा। उसे अतिसार का रोग हो गया और असमय में ही वह इस संसार से चल बसा। पीछे

महारानी ने अपने चातुर्यबल से काम लिया। कौशाम्बी की सुरक्षा-व्यवस्था सुदृढ़ कर ली। वत्सदेश की जनता अपने देश और महारानी की सुरक्षा के लिए कटिबद्ध हो गई। चण्डप्रद्योत की विशाल सेना ने नगरी को घेर लिया। चारों ओर युद्ध का आतंक छा गया।

मृगावती को भगवान् महावीर की स्मृति हुई। उसे अंधकार में प्रकाश और समस्या में समाधान उपलब्ध हो गया। भगवान् महावीर कौशाम्बी में समवसृत हुए। भगवान् के आगमन का संवाद पाकर कौशाम्बी के बन्द द्वार खुल गए। भय का वातावरण अभय में बदल गया। मृगावती और चण्डप्रद्योत दोनों ही भगवान् के दर्शनार्थ समवसरण में आए। भगवान् ने अहिंसा की चर्चा की। मध्यस्थभाव से दोनों ने भगवान् की देशना सुनी। चण्डप्रद्योत का आक्रोश शान्त हुआ और उसका अन्तःकरण मैत्री से ओत-प्रोत हुआ। अवसर देखकर मृगावती ने भगवान् को निवेदन करते हुए कहा—भंते! मैं आपकी वाणी से प्रभावित हूं। यदि महाराज चण्डप्रद्योत मुझे स्वीकृति दें और वत्सदेश के राजकुमार उदयन की सुरक्षा का दायित्व अपने पर लें तो मैं आपके चरणों में दीक्षित होना चाहती हूं। चण्डप्रद्योत ने इसे स्वीकार कर लिया। मृगावती का शील सुरक्षित रह गया और पुनः उज्जयिनी और वत्स—दोनों देश मैत्री के सूत्र में बंध गए।

आज चण्डप्रद्योत महाराजा उद्रायण की रूपसी दासी के अपहरण के आरोप में बन्दी बना हुआ था। महाराजा उद्रायण के यहां कुब्जा नाम की दासी रहती थी। उसके पास दो गुटिकाएं थीं, जिनकी भिन्न-भिन्न विशेषताएं थीं। एक गुटिका का आसेवन करने पर स्वर्णरूप की प्राप्ति होती थी तो दूसरी गुटिका के प्रयोग से इच्छित पुरुष को अपने पास बुलाया जा सकता था। ये दोनों गुटिकाएं परिचर्या स्वरूप उसे गान्धार देश के गृहपति के द्वारा उपहार में मिली थीं। दासी ने उन दोनों का प्रयोग किया। परिणामस्वरूप उसका रूप सोने जैसा सुन्दर हो गया और उसके द्वारा वाञ्छित वह कामुक चण्डप्रद्योत उसके पास आया और उसका अपहरण कर उसे उज्जयिनी ले गया। महाधिपति उद्रायण ने इसे अपना अपमान समझा। आक्रमण-प्रत्याक्रमण हुआ। चण्डप्रद्योत पराजित होकर उद्रायण के हाथों बन्दी बन गया।

लम्बा मार्ग और लम्बी यात्रा। महाराजा उद्रायण मार्ग में पड़ाव करते-करते अपने देश आ रहा था। समय काफी बीत चुका था। उद्रायण ने दसपुर में पड़ाव किया। उस दिन सांवत्सरिक पर्व आ गया। भगवान् महावीर का परमोपासक। निर्ग्रन्थ प्रवचन में अटूट आस्था। वर्षभर में एक दिन मनाया जाने

वाला यह पावन पर्व। महाराजा उद्रायण इसे कैसे नहीं मनाता? मनाना आवश्यक था, किन्तु आज वह यात्रा के कारण विवश भी था। धर्म-आराधना का जो अनूठा आनन्द उसे घर पर या किसी के सान्निध्य में उपलब्ध होना था, वह आनन्द कुछ फीका जरूर लग रहा था। उसने अपने सुभटों को निर्देश दिया कि वह आज का दिन धर्म की उपासना में बिताएगा, उपवास रखेगा। अतः आज अग्रिम मंजिल के लिए यात्रा नहीं होगी। पड़ाव यहीं रहेगा। अन्य कोई भी, जिसे भगवान् महावीर में श्रद्धा है, धर्म का आचरण कर सकता है और वह भी उसमें सहभागी बन सकता है।

महाराज उद्रायण ने संवत्सरी का सारा दिन धर्म-जागरण में व्यतीत किया, पौषधोपवास से अपने आपको भावित किया। वर्षभर की भूलों की आलोचना करते हुए चौरासी लाख जीवयोनि से क्षमायाचना की। आज के दिन महाराजा उद्रायण इस धर्मस्रोतस्विनी में अभिस्नात होकर अपने अन्तःकरण को विशुद्ध और निर्मल बना रहा था। उसका रोम-रोम मैत्री से आप्लावित था। न किसी के प्रति वैर और न किसी के प्रति कोई प्रतिशोध। सर्वत्र मैत्री-ही-मैत्री टपक रही थी। सुबह होते ही उसने अपने समस्त सुभटों और कर्मचारियों से क्षमायाचना की और फिर वह वहां पहुंचा जहां चण्डप्रद्योत बन्दी बना हुआ था। महाराजा उद्रायण ने करबद्ध होकर विनम्रतापूर्वक चण्डप्रद्योत से क्षमायाचना की। क्षमायाचना की इस विधि को देखकर चण्डप्रद्योत ने कहा—'राजन्! क्षमा करना और बंदी बनाए रखना—ये दोनों एक साथ कैसे हो सकते हैं? आप बन्दी से क्षमा पाने की आशा कैसे रख सकते हैं? भगवान् महावीर ने मैत्री के मुक्तक्षेत्र का निरूपण किया है। उसमें न बन्दी बनने का अवकाश है और न बन्दी बनाने का। यदि आप अन्तःकरण से क्षमायाचना की सम्यक् विधि का पालन करना चाहते हैं तो हम दोनों को समान धरातल पर आना होगा। आप राजा के बड़प्पन से बड़े बने रहें, और मैं बन्दी बना हुआ छुटपन का अनुभव करता रहूं, यह कभी नहीं हो सकता, आप एकपक्षीय क्षमायाचना चाह रहे हैं। मेरे साथ वैसा व्यवहार करें, जैसा कि आप चाहते हैं कि दूसरा आपके साथ करे। तभी इस मैत्रीमय सांवत्सरिक पर्व को मनाने की सार्थकता होगी।'

महाराजा उद्रायण ने यह सब कुछ सुना। एक ओर अपना शत्रु, जिसे कितने प्रयत्नों के बाद बंदी बनाया था, कितने व्यक्तियों का खून बहाया था तो दूसरी ओर संवत्सरी का वह महान् पर्व। क्षमा लेने और क्षमा देने का महान् अवसर। तत्काल उद्रायण को अपने प्रमाद का अनुभव हुआ। उसने इस महान्

पर्व की प्रतिष्ठा के लिए अपने स्वार्थ को त्याग दिया। अतीत की सब बातों को भुलाकर स्वयं वह मैत्री की वेदी पर प्रतिष्ठित हो गया। कुछ ही क्षणों में चण्डप्रद्योत न केवल शरीर के बन्धन से मुक्त हुआ, अपितु भीतर छिपे हुए शत्रुता के बन्धन से भी मुक्त हो गया। दोनों अधिपति मैत्री के बन्धन में बन्ध गए। अब दोनों एक-दूसरे के गले मिलते हुए अन्तर्मन से क्षमायाचना कर रहे थे। चण्डप्रद्योत क्षमा मांग रहे थे तो उद्रायण उसे क्षमा दे रहे थे। परस्पर एक विनिमय और आदान-प्रदान हो रहा था। मैत्री की सुरभि से महकता हुआ सारा वातावरण मैत्रीमय हो रहा था और सबके अधरों पर गूंज रहा था वह मैत्रीमंत्र–

खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणई।।

१४. कूरगडूक का ऊर्ध्वारोहण

घटिका में ग्यारह बजने को थे। अन्य दिनों की अपेक्षा काफी विलम्ब हो चुका था और आगे भी विलम्ब होता चला जा रहा था। मुनि कूरगडूक भूख से आकुल-व्याकुल बने हुए प्रवचन के संपन्न होने की राह देख रहे थे और मन-ही-मन सोच रहे थे कि कब व्याख्यान पूरा हो और कब मैं भिक्षा के लिए जाऊं? मुनिजीवन में आने वाले नानाविध कष्टों को सहते हुए भी उनके लिए भूखा रहना एक महान् दुष्कर तप था। केवल सांवत्सरिक उपवास के अतिरिक्त उन्होंने जीवन में कभी कोई उपवास किया हो, याद नहीं था। अपनी इस अशक्यता पर वे क्षुब्ध तो थे ही, किन्तु करते भी क्या? उन्होंने रसनाविजय की दिशा में एक प्रयोग प्रारम्भ किया। वे भिक्षा में क्रूर—नीरस भोजन लाते और उसे अनासक्तभाव से खा लेते। अपने इस कठोर तप के कारण उनका नाम भी 'ललितांग' से 'कूरगडूक' पड़ गया। आचार्य विमलद्युति प्रवचन को लम्बा किए जा रहे थे। पर्युषण की चतुर्दशी का दिन था। हजारों-हजारों लोग प्रवचन का रसास्वादन लेते हुए आकंठ उसमें डूबे हुए थे। मुनि कूरगडूक बुभुक्षा के कारण अब अधिक विलम्ब सहन नहीं कर सके। उनके धीरज का बांध टूट गया। वे तत्काल उठे, पात्रियों को झोली में डाला और प्रवचन के मध्य ही आचार्य के पास आकर क्षमा मांगते हुए बोले—'वन्दे भगवन्! गोचरी जाने की आज्ञा।' उनकी इस प्रवृत्ति को देखकर श्रोतागण भी हंसे और उनके साथी मुनिजन भी। आज्ञा शब्द सुनते ही आचार्य विमलद्युति भी कुछ चौंके और तिरछी दृष्टि से शिष्य कूरगडूक को देखते हुए बोले—अरे! कूरगडूक! आज तो पर्युषण की चतुर्दशी है। इस दिन का धार्मिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से कितना महत्त्व है? हजारों-हजारों लोग उपवासी हैं। तेरे सभी समवयस्क साथियों के उपवास है। यदि तू भिक्षा के लिए जाएगा तो मिलेगा क्या? तू ऐसा क्या पेटू हो

गया कि एक दिन भी बिना खाए नहीं निकाल सकता। आधा दिन तो बीत ही गया। अब आधे दिन की बात और है।

कूरगडूक ने बद्धांजलि होकर कहा—'गुरुदेव! आप मेरे हितैषी हैं। मुझे कल्याणमार्ग की ओर प्रेरित करने वाले हैं। करूं क्या? पेट भूखा है, मानता ही नहीं। आप ठीक कहते हैं गुरुदेव! आपकी सभी बातें शिरोधार्य हैं, किन्तु उपवास करना मेरे लिए असाध्य और दुर्गम है।'

आचार्य ने उन्हें पुनः पुनः उपवास करने की प्रेरणा दी, परन्तु शिष्य ने हर बार अपनी असमर्थता ही प्रकट की। अन्त में आचार्य ने भी अन्यमनस्कता दिखाते हुए किंचिद् रूखे स्वर में कहा—'जा, जा, जैसी तेरी इच्छा।'

मध्याह्न की तपती दुपहरी। ऊपर सूर्य अपने आतप से सिर को तपा रहा था तो नीचे धरती अंगारों की भांति पैर जला रही थी। कूरगडूक मुनि भिक्षा के लिए घर-घर घूम रहे थे। कहीं घर के द्वार बन्द थे तो कहीं घर के सभी सदस्य उपवास किए हुए थे। कहीं किसी के रसोई बनने में देरी थी तो कहीं किसी के प्रासुक और कल्पनीय भोजन की प्राप्ति ही नहीं थी। फिर भी मुनि प्रसन्नता से एक घर से दूसरे घर में जाते हुए भिक्षा की गवेषणा कर रहे थे। बहुत प्रयत्न के पश्चात् उनको किसी के घर बची-खुची तथा बासी खिचड़ी ही भिक्षा में उपलब्ध हुई। जो कुछ मिला उसी में मुनि कूरगडूक ने आत्मतोष किया और बिना किसी उद्विग्नता के अपने स्थान पर लौट आए। अपने द्वारा लाई हुई भिक्षा को गुरु को दिखाया। आचार्य विमलद्युति कुछ तो पहले से ही रुष्ट थे और फिर भिक्षा देखकर और अधिक उत्तेजित हो गए। उन्होंने तत्काल बिना कुछ विचारे पात्री में थूकते हुए कहा—देखता हूं तू कैसे भोजन करता है? मुनि कूरगडूक शान्तभाव से उपाश्रय के भीतर गए और आचार्य द्वारा किए गए कार्य को भी अपने लिए वरदान माना। पात्री को एक कोने में रखकर 'चउवीसत्थव' किया और फिर खिचड़ी को मिलाते हुए आत्मालोचन में लग गए—अरे! वे साधु-साध्वियां कितने धन्य और कृतपुण्य हैं जो तपस्या कर कर्ममल की शुद्धि कर रहे हैं। किसी के मासखमण है तो किसी के पाक्षिक। किसी के आठ दिनों की तपस्या है तो किसी के उपवास। मैं हूं पेट का ऐसा पुजारी कि एक समय भी बिना खाए नहीं रह सकता। मन का इतना गुलाम कि भूख को निकाल ही नहीं सकता। इससे अधिक निकृष्टता क्या हो सकती है? धिक्कार है मेरी इस अशक्यता को, दुर्बलता को। वे गृहस्थ श्रावक और श्राविकाएं भी कितने अच्छे हैं जो दान, शील, तप और भावना से अपने

आपको भावितकर शिवपुर जाने का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं। अहो! मैं कितना धृष्ट और अविनीत हूं कि मैंने अपनी धृष्टता के कारण गुरु को भी उत्तेजित कर दिया। मेरे गुरु कितने उपकारी, बात-बात में मेरा कितना ध्यान रखने वाले! जो अरस-विरस आहार घी के उपलब्ध न होने पर मुझे करना पड़ता आज उस नीरस आहार को भी गुरुदेव ने करुणा कर मेरे लिए सरस बना दिया। इस प्रकार मुनि कूरगडूक अपने ही दर्पण में अपनी कमजोरियों को देख रहे थे और प्रमोद अनुप्रेक्षा करते हुए दूसरों के गुणों का अनुमोदन कर रहे थे। इस प्रमुदिता के कारण उनके क्रमशः कर्मबन्धन भी शिथिल होते चले जा रहे थे, संयम-नाव भवसागर को पार कर तट पर पहुंचने को थी। सहसा उसी बीच जैन-शासन की अधिष्ठात्री देवी चक्रेश्वरी वहां आई और आचार्यवन्दन किए बिना ही कूरगडूक के पास जाने लगी। दूसरे मुनियों ने जब इसका कारण पूछा तो देवी ने कहा—मैं अभी-अभी अर्हत् सीमंधरजी स्वामी के समवसरण से आ रही हूं। उन्होंने एक रहस्य प्रकट करते हुए कहा है कि इसी भरतक्षेत्र में अभी-अभी मुनि कूरगडूक को केवलज्ञान उपलब्ध होने वाला है। मैं अपनी उत्सुकता को नहीं रोक सकी और उनके दर्शन करने यहां आई हूं। देवी की बात सुन मुनिजन खिलखिलाकर हंसने लगे और सोचा—जो मुनि एक उपवास भी नहीं कर सकता वह केवलज्ञानी बने, कैसे संभव है? मुनि कूरगडूक प्रमोद अनुप्रेक्षा करते हुए निरन्तर ऊर्ध्वगामी बन रहे थे। उत्कर्षता, उत्कर्षता, निरन्तर उत्कर्षता उनके भावों को विशुद्ध कर रही थी, सहसा उन्होंने अपने विशुद्ध परिणामों से एक छलांग भरी। मोह का पूर्ण विलय हुआ। आवरक कर्मों का बन्धन टूटा और वे केवलज्ञान के आलोक से आलोकित हो उठे। चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश, न कोई राग और न कोई द्वेष। सर्वत्र वीतरागता ही वीतरागता। व्योममार्ग में देवदुन्दुभियां बज उठीं। सबने उस नाद को सुना। केवलज्ञान-महोत्सव मनाने के लिए देवता मर्त्यलोक में आने लगे, सबने उस दृश्य को देखा। आचार्य विमलद्युति की चेतना अन्तर्मुखी हुई। उनको अपने द्वारा किए गए अविमृष्ट कार्य के प्रति आत्मालोचन हुआ और कूरगडूक मुनि की साधना की उत्कृष्टता का मूल्यांकन किया। अपने मानसिक परिणामों की विशुद्धता के कारण आचार्य विमलद्युति ने भी उस गहराई को नाप लिया। देखते-देखते वे भी केवलज्ञान की भूमिका तक पहुंच गए। अब इस धरती को एक नहीं दो-दो भास्कर अपनी केवलज्ञान की रश्मियों से प्रभास्वर कर रहे थे और जनता उस आदित्ययुगल से लाभान्वित हो रही थी।

१५. करुणा : रूपान्तरण की प्रक्रिया

भगवान् महावीर की साधना का द्वितीय वर्ष। भगवान् अपने जीवन में साधना के विविध प्रयोग कर रहे थे। कभी अहिंसा का प्रयोग तो कभी मैत्री का। कभी अभय का तो कभी करुणा का। प्रयोगों की इन विविध भूमिकाओं का स्पर्श करते हुए भगवान् ग्रामानुग्राम विहरण कर रहे थे। एक बार वे दक्षिण वाचाला से उत्तर वाचाला की ओर जा रहे थे। इसके लिए उन्होंने कनकखल आश्रम के भीतर से जाने वाला मार्ग चुना। वे कुछ ही दूर बढ़े थे कि ग्वालों ने उन्हें रोका और कहा—भन्ते! आप इधर से न जाएं। यह मार्ग निरापद नहीं है, खतरों से भरा हुआ है। इस मार्ग में चंडकौशिक नाम का सर्प रहता है। वह दृष्टिविष है। जो कोई व्यक्ति उसकी आंख के सामने आ जाता है, वह भस्म हो जाता है। इसी कारण कुछेक वर्षों से यह मार्ग यातायात के लिए अवरुद्ध है, निर्जन है। आप हमारी बात मानें और वापिस मुड़ जाएं।

भगवान् ग्वालों की बात सुनकर पुलकित हो उठे। अनायास ही उनके सामने एक अलभ्य अवसर आ गया। स्वयं के द्वारा स्वयं की कसौटी करने का एक महान् प्रयोग था। वे अपने सशक्त प्रयोग से उस अज्ञानी जीव को भी प्रतिबोध देना चाहते थे। भीतर ही भीतर उनका मानस साधना के स्वर में बोल उठा—'मूढ़ आत्मा जिसके प्रति विश्वस्त है, उससे अधिक दूसरा कोई भय का स्थान नहीं है। वह जिससे भयभीत है, उससे अधिक दूसरा कोई अभय का स्थान नहीं हैं।'

भगवान् के चरण उन सबकी उपेक्षा करते हुए आगे बढ़ गए। भगवान् आगे बढ़ते जा रहे थे और पीछे ग्वाले आश्चर्य की निगाहों से देख रहे थे कि कैसा निर्भीक पुरुष है!

महावीर का आज का ध्यानस्थल देवालय का मंडप था तो विषधर

चंडकौशिक का वही मंडप क्रीड़ास्थली था। एक विचित्र योग। भगवान् मंडप के मध्य कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े हो गए। उनके दोनों हाथ नीचे की ओर झूल रहे थे, अंगुलियां घुटनों को छू रही थीं। सटी हुई एड़ियां पंजों के बीच चार अंगुल का अन्तराल तथा अनिमेष चक्षु नासाग्र पर टिके हुए थे। वे मन-वचन और काय को व्युत्सृष्ट कर चुके थे। बाह्य जगत् से उनका सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो चुका था। मुखमंडल पर एक प्रकार की दीप्ति और आभा झलक रही थी। उनका आभामंडल अपने चारों ओर शान्ति और करुणा के परमाणुओं का विकीर्ण कर रहा था।

शाम का समय। सूर्य का आतप ढलता जा रहा था। चंडकौशिक ने दिन भर जंगल में क्रीड़ा की और शाम को घूमघाम कर अपने देवालय में आ रहा था। समीप आते ही उसने किसी पुरुष को अपने स्थान पर देखा। तत्काल वह स्तब्ध रह गया। जो मंडप वर्षों से निर्जन था और कोई उसके परिपार्श्व में पैर भी नहीं रखना चाहता था, वहां किसी व्यक्ति का आकर ठहरना अपने आपमें एक प्रश्नचिह्न था। चंडकौशिक ने आज पहली बार ही अपनी क्रीड़ा-भूमि में किसी मनुष्य को देखा था। वह कब सहन करने वाला था अपने स्थान में किसी दूसरे का प्रवेश। तत्काल उसका फन उठ गया। दृष्टि विष से व्याप्त हो गई। भयंकर फुफकार के साथ उसने महावीर को देखा। पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। दूसरे तीसरे क्षण भी उसने महावीर को गिराने की दृष्टि से फिर देखा, पर वह व्यक्ति अभी भी वैसे ही खड़ा था, जैसे पहले खड़ा था। चण्डकौशिक का महावीर पर कोई असर नहीं था। उसने मन ही मन सोचा—मेरी प्रथम दृष्टि ही मनुष्य को भस्मीभूत करने के लिए पर्याप्त है, फिर यह ऐसा कौन पुरुष है जिस पर मेरा कोई असर ही नहीं! विफलता ने उसे और अधिक क्रोधित बना दिया। पुनः उसने सूर्य के सामने देख दृष्टि को विष से भरा और वेगपूर्वक विषसंकुल दृष्टि भगवान् पर डाली। प्रयास विफल रहा। भगवान् अब भी पर्वत की भांति अप्रकम्प खड़े थे। बार-बार का प्रयास चण्डकौशिक के क्रोध को सीमातीत कर रहा था। वह क्रोध से उबल पड़ा। तत्काल भयंकर क्रोध के साथ वह आगे सरका। उसका शरीर क्रोध से उछल रहा था, लाल आंखें विष को उगल रही थीं, विकराल फन रौद्रता को प्रकट कर रहा था और असिफलक की भांति जीभ लपलपा रही थी। उसकी रौद्रता उत्कर्ष बिन्दु तक पहुंच चुकी थी। उसने सारी शक्ति लगाकर भगवान् के बाएं पैर के अंगूठे को डसा। विष की शक्ति भगवान् के ध्यानरूप अमृतरस से परास्त हो चुकी थी; फिर भी चंडकौशिक ने अपने

प्रयत्न को नहीं छोड़ा। उसने पुनः जी तोड़ प्रयत्न किया। दूसरी बार फिर पैर को डसा और फिर ऊपर चढ़कर गले को डसा। सब प्रयत्न एक के बाद विफल होते गए। अन्ततः वह थककर चूर हो गया। मन में निराशा और अनुताप का अनुभव होने लगा। क्रोध से खिन्न बना हुआ वह अब शान्ति पाने का इच्छुक था। कुछ दूर जाकर वह भगवान् के सामने बैठ गया।

भगवान् की ध्यान-प्रतिमा संपन्न हुई। चण्डकौशिक अपनी विशाल काया को समेटे हुए शान्त बैठा था। उसकी विश्रान्ति भगवान् की करुणा दृष्टि पाना चाहती थी। उसे देखकर महावीर के मन में करुणा का अजस्र स्रोत फूट पड़ा, वाणी में करुणा बोल उठी और आंखों से करुणा बरसने लगी। भगवान् मन-ही-मन उसकी अज्ञानता पर हंस रहे थे तो चण्डकौशिक भगवान् के परिपार्श्व से करुणा के परमाणुओं को ले रहा था। उसका रोम-रोम शान्ति और मैत्री से भर रहा था। भगवान् की करुणामय दृष्टि से उसकी दृष्टि का विष धुल गया। भगवान् अपने इस महान् प्रयोग की कसौटी में खरे उतरे। वह विषधर भगवान् की करुणा का संबल पाकर प्रबुद्ध-संबुद्ध और वीतराग बना और एक महान् परिव्राजक के आलोक से आलोकित होकर कल्याण-पथ का पथिक बन गया।

ग्वालों के मन में भगवान् की निर्भीकता के प्रति कौतूहल और जिज्ञासा थी। वे यह देखने के लिए पीछे आ रहे थे कि देखें क्या होता है? वृक्ष पर चढ़कर उन्होंने दूर से यह सब कुछ देखा। वे आश्चर्यचकित रह गए। अब दूर-दूर तक संवाद पहुंच चुका था कि 'चण्डकौशिक' शान्त हो गया है। जिसका नाम सुनकर लोग भय से कांपते थे आज उसी के पास हजारों-हजारों लोग आ-जा रहे थे। यह सब विचित्र-सा लग रहा था। इस दृश्य को देखकर उनकी आंखें विश्वस्त और प्रफुल्लित हो रही थीं। सबका अन्तःकरण हर्ष से उमड़ रहा था। भगवान् महावीर वहां पन्द्रह दिन रहे। उनका वह प्रवास क्रूरता के प्रति मृदुता, क्रोध के प्रति प्रीति, जनता के अन्तःकरण से भय का निवारण, अपने आपको करुणा से आप्लावित तथा किसी को प्रतिबुद्ध करने के साथ ही संपन्न हुआ।

१६. मुनि मेतार्य

जेठमास की चिलचिलाती धूप। आकाश तप रहा था तो नीचे धरती तप रही थी। महामुनि मेतार्य उस तप्ति में राजगृह के मार्गों पर पर्यटन करते हुए घर-घर भिक्षा की एषणा कर रहे थे। एक मास का उपवास, शरीर से कृश और मुखमण्डल पर साधना की प्रदीप्ति। वे जन्मना चाण्डाल तथा सम्राट् श्रेणिक के संसारपक्षीय जामाता थे। वे भगवान् महावीर के संघ में दीक्षित हुए और दीक्षा के साथ ही जातीयता के कटघरे से भी मुक्त हो गए। उनका अन्तस् साधना के आलोक में आलोकित हो उठा। वे एक महान् साधक बन गए, साधना की उत्कृष्ट भूमिका में पहुंचकर एकलविहारी हो गए।

आज वे भिक्षा के लिए घूमते-घूमते किसी स्वर्णकार के घर जा पहुंचे। उस समय स्वर्णकार महाराजा श्रेणिक का हार बनाने के लिए सोने के यवों को गढ़ रहा था। कार्य में तत्परता और तल्लीनता थी। उसे यह हार आज ही सम्राट् को भेंट करना था। कुछ क्षण उसने मुनि की ओर ध्यान ही नहीं दिया। सहसा दृष्टि ऊपर गई तो देखा मुनि खड़े हैं। मुनि को वन्दन करता हुआ वह उठ खड़ा हुआ। अन्तःकरण प्रसन्नता से भर गया। उसने अभ्यर्थना करते हुए कहा—महाश्रमण! आपने बहुत कृपा की। मेरे आंगन को पवित्र किया। मेरा अहोभाग्य है। आप कुछ क्षण रुकें। मैं देखकर आ रहा हूं कि रसोई बनी है या नहीं? स्वर्णकार यवों को बिखरा हुआ छोड़कर घर के भीतर चला गया। घर दुकान से सटा हुआ था। मुनि वहीं खड़े रहे। दुकान के छज्जे पर पहले से ही क्रौंच पक्षी का एक युगल बैठा था। वह अवसर की ताक में था। स्वर्णकार के जाने के बाद वह पांखों को फड़फड़ाता हुआ नीचे उतरा और पड़े हुए उन स्वर्णयवों को अपना भक्ष्य समझकर निगल गया और फिर छज्जे पर जा बैठा।

स्वर्णकार घर से बाहर आया, मुनि को निवेदन करने के लिए कुछ आगे बढ़ा तो देखा कि यव नहीं हैं। तत्काल चेहरे का रंग उड़ गया। हाथ-पैरों में स्तब्धता छा गई। मुनि से पूछा, मुनि मौन रहे। वह जानता था कि यदि आज यह हार महाराजा श्रेणिक को उपहृत नहीं किया गया तो उसे कठोर दण्ड भुगतना होगा। वह अत्यधिक व्यग्र और बेचैन हो उठा। ज्यों-ज्यों समय बीत रहा था त्यों-त्यों वह आवेश में भरता जा रहा था। वह बोला—महाराज! मैं अभी-अभी आपके सामने इन स्वर्णयवों को छोड़कर गया था और क्षणभर बाद ही वापिस लौट आया। इस बीच तीसरा कोई आया नहीं, फिर मेरे ये स्वर्ण-यव कहां गए? स्वर्णकार बार-बार मुनि से उत्तर चाह रहा था और मुनि कोई उत्तर नहीं दे रहे थे। मुनि अब भी मौन खड़े थे। मुनि की इस मौनमुद्रा से स्वर्णकार झुंझला गया। उसका मन सशंकित हो उठा। उसने सोचा—बहुत संभव है कि मुनि ने ही मेरे स्वर्ण-यवों को चुराया हो। अब इनके सिवाय दूसरा कौन उत्तरदायी हो सकता है? उसने पुनः मुनि की भावनाओं पर प्रहार करते हुए कहा—श्रमण! आप समझते होंगे कि स्वर्ण-यव मेरे हैं, किन्तु ये यव मेरे नहीं, सम्राट् श्रेणिक के हैं। यदि मैं इनको वापिस नहीं लौटाऊंगा तो सम्राट् मुझे मृत्युदण्ड देंगे। आप मुनि हैं, साधक हैं। आपने कितना वैभव, सुख-सुविधा का परित्याग किया है। आप अपने त्याग को देखें, मुझे देखें, मन से लोभ का संवरण करें। त्याग के सामने इस तुच्छ वस्तु का मूल्य ही क्या? भूल होना स्वाभाविक है। आप सिद्ध नहीं हैं, साधक हैं। आप मेरी वस्तु लौटा दें, अपने प्रमाद का प्रायश्चित्त कर लें।

स्वर्णकार द्वारा इतना कहने पर भी मुनि का मौन भंग नहीं हुआ। मुनि के भीतर न राग की चेतना थी और न द्वेष की। वे मध्यस्थभाव से सब कुछ सुनते जा रहे थे और सबकी उपेक्षा करते हुए तटस्थभाव से देख रहे थे। वे जानते थे कि यदि राग और द्वेष दोनों में से किसी एक का भी पलड़ा भारी होता है तो बहुत बड़ा अनर्थ घटित हो सकता है। मेरे मौन खोलने का अर्थ है कि इस क्रौंच युगल की हत्या। इसमें स्वर्णकार का भी क्या दोष है! वह बेचारा आतंकित है, भयभीत है। यदि मैं मौन खोल भी दूं तो न्याय कहां है? एक के प्रति प्रियता और दूसरे के प्रति अप्रियता स्पष्ट झलक रही है। मुझे दूसरे प्राणों की बलि देने का क्या अधिकार है, क्योंकि मैं ज्ञाता-द्रष्टा की भूमिका में खड़ा हूं। मैं ही संभावित कष्टों को सहन कर सकता हूं और अपने प्राणों की बलि दे सकता हूं।

इस प्रकार सोचते हुए महामुनि मेतार्य ध्यान-प्रकोष्ठ में लीन हो गए। ज्ञाता-द्रष्टा होकर शरीर और आत्मा की पृथक् अनुभूति करने लगे। स्वर्णकार अब आपे से बाहर हो चुका था। उसने सोचा—श्रमण का मन ललचा गया है। वे दण्ड के बिना मानेंगे नहीं। उसने तत्काल गीले चर्मपट्ट से मेतार्य मुनि का सिर बांध दिया। सूर्य के आतप से जैसे-जैसे वह चमड़े का पट्ट सिकुड़ रहा था, सिर में भयंकर वेदना हो रही थी। उनके मन में न शरीर के प्रति व्यामोह था और न स्वर्णकार के प्रति कोई आक्रोश। वे माध्यस्थ्य अनुप्रेक्षा का अनुचिन्तन करते हुए उन सब कष्टों को सह रहे थे। चमड़े के सूखने के साथ ही उनके आवारक, विकारक और विघातक कर्म भी सूख-सूखकर झड़ रहे थे। एकाएक असह्य वेदना से वे बेहोश होकर भूमि पर लुढ़क गए। समता में प्रतिष्ठित हो गए। केवलज्ञान की ज्योति से जगमगाते हुए सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन गए।

क्रौंच पक्षी अभी भी दुकान के छज्जे पर बैठा हुआ था। सहसा उसी समय एक लकड़हारा लकड़ियों का भार लेकर वहां आया। उसने अपना भार हल्का करने के लिए उस काष्ठभार को जोर से जमीन पर पटका। उस तीव्र ध्वनि से क्रौंच पक्षी भयभीत हो गया। भय के मारे क्रौंच पक्षी के विष्ठा हो गई और वे सारे स्वर्ण-यव विष्ठा के साथ बाहर निकलकर आ गिरे। स्वर्णकार ने गिरते हुए उन यवों को देखा। एक ओर यव मिलने की प्रसन्नता थी तो दूसरी ओर बिना सोचे-समझे मुनिहत्या की विषण्णता। वह कांप उठा। सर्वत्र उसे मौत दिखाई देने लगी। बचाव का कोई दूसरा उपाय नहीं था। उसने तत्काल वेश बदला और साधना के पथ पर अग्रसर हो गया। अनुरक्ति से विरक्ति और राग से विराग की ओर प्रस्थान करता हुआ वह भी एक दिन मंजिल को उपलब्ध हो गया।

१. सम्राट् भरत

महानगरी विनीता की चहल-पहल बढ़ती जा रही थी। लोगों का प्रफुल्ल-मानस अपने प्रभु को पाकर आनन्दोत्सव मना रहा था। ब्रह्ममुहूर्त्त से ही सभी नागरिक अहंपूर्विकया उत्तर दिशा की ओर चले जा रहे थे। निर्जन रहने वाला नगर का बाह्य उद्यान जनाकीर्ण होता जा रहा था। उनका अन्तःकरण प्राकृतिक-सम्पदा से कहीं अधिक हरा-भरा और पेड़-पौधों में प्रस्फुटित नई कोंपलों की भांति नव-नवोन्मेष ले रहा था। उन सभी के चेहरे हर्ष की रेखाओं से देदीप्यमान, अनिमेष लोचनयुगल किसी संभाव्य प्रियदर्शनों के लिए लालायित, कर्णयुगल मधुरवचनश्रवण के लिए उत्कर्ण तथा रसना सुस्वादिष्ट रसास्वादन के लिए चपल थी।

आज महानगरी को वन्दनवारों से सजाया गया था। कहीं सुगन्धित द्रव्य छिड़के जा रहे थे तो कहीं अक्षत-कुंकुम आदि मांगलिक द्रव्यों से स्वस्तिक बनाए जा रहे थे। कहीं मुख्यमार्गों में वाद्ययन्त्रों की मंगलध्वनि गूंज रही थी तो कहीं सम्राट् को देखने के लिए लोगों की भीड़ लगी हुई थी। विनीताधिपति सम्राट् भरत आज अपनी चतुरंगिणी सेना से सुसज्जित होकर भगवान् ऋषभ के दर्शनों के लिए जा रहे थे। एक ओर उनका आध्यात्मिक सम्बन्ध था तो दूसरी ओर पारिवारिक सम्बन्ध। आदिनाथ तीर्थंकर सम्राट् भरत के संसारपक्षीय पिता थे, किन्तु वीतराग होने के कारण अध्यात्मपथ के प्रणेता भी थे। भगवान् ने प्रव्रज्या लेते समय अपना उत्तराधिकार भरत को ही सौंपा था। भगवान् ऋषभ के सौ पुत्र थे। उनमें भरत ज्येष्ठ और अनुभवी थे। उन्होंने अपने शासन-विस्तार और चक्रवर्ती बनने के लिए बड़ी-बड़ी लड़ाइयां लड़ीं। अनेक राजाओं को अपने पराक्रम से विजित किया, फिर भी उनकी विजययात्रा अभी तक अपूर्ण थी। जब तक वे षड्खंड के सभी राजाओं को नहीं जीत लेते तब तक उनका चक्रवर्ती बनने का स्वप्न साकार नहीं हो सकता था। अतः उन्होंने अपने सभी भाइयों को स्व-अनुशासन में लेना चाहा। अट्ठानवें भाई भरत के अनुशासन को चुनौती देकर

धर्म-अनुशासन में चले गए। केवल बहली देश के राजा बाहुबलि ही ऐसे थे जो भरत का आधिपत्य स्वीकार करना नहीं चाहते थे। इससे भरत बड़े असमंजस में पड़ गए। एक ओर चक्रवर्ती बनने का अहं तो दूसरी ओर अपने भाई की अनुशासनहीनता की असह्य स्थिति। एक ओर भाई के साथ युद्ध करने का पाप तो दूसरी ओर लोकनिन्दा का भय। एक प्रकार की दुविधा उनके सामने उपस्थित थी। चक्ररत्न तब तक आयुधागार में प्रविष्ट नहीं होता जब तक वे अपने भाई को नहीं जीत लेते। इसलिए बाहुबलि को जीतना आवश्यक था। उन्होंने बाहुबलि के साथ युद्ध किया और बाहुबलि उस युद्ध में विजयी हुए, पर युद्धभूमि से ही उनके चरण विरक्ति की ओर गतिमान हो गए।

इस घटना से सम्राट् भरत के मन में एक तीव्र प्रतिक्रिया हुई। अब उनके सामने भ्रातृत्व जैसा कुछ रहा ही नहीं। केवल अहंपोषण और राज्यलिप्सा के अतिरिक्त बचा ही क्या था? सारा आमोद-प्रमोद भाई के साथ ही समाप्त हो गया। तब से वे निर्लिप्त और अनासक्ति का जीवन बिताते हुए शासनसूत्र का संचालन कर रहे थे।

विनीता में समवसृत भगवान् ऋषभ को पाकर सम्राट् भरत आज प्रसन्नमना दिखाई दे रहे थे। उनकी आध्यात्मिक चेतना भगवान् का सान्निध्य चाहती थी। जब वे भगवान् के समवसरण के समीप पहुंचे तो दूर से उन्होंने समुत्सुक और अतृप्त-नेत्रों से उस त्रिभुवनमोहिनी मुद्रा को देखा। भगवान् को देखते ही पुत्र भरत का पिता के प्रति होने वाला नैसर्गिक ममत्व जाग उठा। वे अपने आपको रोक नहीं सके। क्षणभर के लिए आंखें डबडबा आईं। सहसा उन्हें एक-एक कर अतीत की स्मृतियां सताने लगीं। उन्होंने सोचा—अरे! जिस पिता ने मुझे पाला-पोसा, बड़ा किया, आज वे जगत्बन्धु बन गए। क्या मैं उन्हीं महान् पिता का पुत्र हूं? अन्तर् में एक प्रकार का स्पन्दन हो रहा था। सहसा आंखें अपने आप पर विश्वास नहीं कर रही थीं। न जाने बचपन से लेकर अब तक कितने संस्मरण उनके जीवन-अध्याय के साथ जुड़े हुए थे। मन कर रहा था कि शिशु की भांति पिता की छाती से लिपट जाऊं, किन्तु अब वह स्थिति बदल चुकी थी। भगवान् ऋषभ सम्राट् ऋषभ नहीं रहे। वे समत्व के धरातल पर खड़े थे। उनकी करुणा व्यापक बन चुकी थी। अब वे सीमा से अतिक्रान्त होकर निस्सीम जीवन जी रहे थे। अहंकार और ममकार की ग्रन्थियां टूट चुकी थीं। उनके लिए न कोई पैतृक सम्बन्ध था और न ही कोई पौत्रिक। सब सम्बन्धों से अतीत केवल शेष बचा था आध्यात्मिक सम्बन्ध। चक्रवर्ती की नवनिधि उस

आध्यात्मिक सम्पदा के सामने अकिंचित्कर तथा फीकी-फीकी-सी लग रही थी। भगवान् के समवसरण की भव्यता, उनकी तेजस्विता तथा सुर, असुर, मानव, तिर्यञ्च की समवेत उपस्थिति सम्राट् के लिए नई-नई, किन्तु नयनाभिराम थी। सम्राट् भरत समवसरण में यथास्थान बैठ गए। उस समय भगवान् धर्मदेशना कर रहे थे। सभी श्रोतागण उस देशना में समरस बने हुए आकण्ठ डूबे हुए थे। देशना समाप्त हुई। यथाशक्ति जनता ने त्याग-प्रत्याख्यान किए और अपने घर लौट गई। तत्पश्चात् किसी ने भगवान् से जिज्ञासा करते हुए पूछा—भन्ते! आपकी इस परिषद् में इसी जन्म में मुक्त होने वाला कौन है? भगवान् ने कहा—भरत इसी जन्म में मोक्ष जाने वाला है। प्रश्नकर्ता को सर्वज्ञ-वचन पर विश्वास नहीं हो रहा था, प्रत्युत वह मान रहा था कि जिस भरत ने चक्रवर्ती बनने के लिए बड़ी-बड़ी लड़ाइयां लड़ीं, नर-संहार किया, फिर भी वह मुक्त हो जाए, यह कितना विचित्र है? उसने तत्काल आवेश में कह दिया कि लगता है कि भगवान् भी अपने पुत्र भरत का पक्ष ले रहे हैं। उसकी वह वाचालता तथा असभ्यता सम्राट् को बहुत अखरी। भगवान् के ऊपर दोषारोपण भरत कैसे सहन कर सकते थे? उन्होंने तत्काल मृत्यु-दण्ड का आदेश सुना दिया। अपराधी ने अपने अपराध के लिए सम्राट् से बार-बार क्षमा-याचना की, बहुत अनुनय-विनय किया, किन्तु सम्राट् ने कहा—एक शर्त पर तुम्हें छोड़ा जा सकता है।

तैल से लबालब भरा एक कटोरा हाथ में लेकर यदि तुम अयोध्या नगरी में घूमो, तैल की एक भी बूंद नहीं गिरे तो तुम मुक्त हो जाओगे, अन्यथा जहां बूंद गिरेगी वहीं तुम्हारा सिर धड़ से अलग कर दिया जाएगा।

एक ओर मृत्युदण्ड का भय तो दूसरी ओर सम्राट् की कठोर शर्त। दोनों में किसी को तो पूरा करना ही था, मरता क्या नहीं करता। आखिर उसे राजा की शर्त स्वीकार करनी पड़ी।

सारे शहर में वह अपराधी तैल से भरे उस कटोरे को लेकर घूम रहा है। मन में एक ही भय है कि कहीं तैलबिन्दु गिर न जाए, जिससे कि मृत्युदण्ड भोगना पड़े। पीछे-पीछे शस्त्रों से सज्जित प्रहरी निगरानी के लिए लगे हुए हैं। बाजारों में कहीं अपार जनसमूह खड़ा है तो कहीं दुकानें सजी हुई हैं। कहीं नाटक मंडलियां नृत्य कर रही हैं तो कहीं रास रचाए जा रहे हैं। कहीं मधुर संगीतों की धुनें बज रही हैं तो कहीं विविध प्रकार के राग-आलाप किए जा रहे हैं। नीची नजर किए अपनी ही धुन में मानो किसी अलमस्त योगी की भांति

वह व्यक्ति अपने गन्तव्य की ओर बढ़ा जा रहा था। उस लम्बी मौत-यात्रा को संपन्न कर उसने सहसा सुख की सांस ली और सम्राट् के चरणों में उपस्थित हो गया। भरत ने प्रश्न करते हुए पूछा—'क्यों, घूम आए?'

'हां! महाराज।'

'नगर में क्या कुछ देखा?'

'प्रभो! कुछ भी नहीं।'

'अरे! कहीं नाटकमंडलियों के नृत्य तो देखें होंगे?'

'महाराज! सच कहता हूं कि मौत के सिवाय कुछ भी नहीं देखा।'

'कहीं राग-रागिनियों को तो सुना होगा?'

'केवल मौत की गुनगुनाहट से ज्यादा कुछ नहीं सुना।'

'कहीं बीच में विविध प्रकार के मिष्टान्नों और सुगन्धित द्रव्यों को तो सूंघा ही होगा?'

'महाराज भी कैसा मजाक कर रहे हैं, मौत के सामने खाना और सूंघना किसको याद आता है? केवल हर क्षण मौत, मौत और मौत ही घूर रही थी।'

'लगता है तब तो तुम एक ही मौत से घबरा गए। एक मौत वस्तु-जगत् के कितने विषयों से उबार सकती है तो फिर मुझे उसमें कैसे लिप्त करेगी? मैं तो मौत की परम्परा से चिर-परिचित हूं। इतने बड़े साम्राज्य का संचालन करते हुए भी मैं उसमें लिप्त नहीं हूं। 'मुझे मरना है'—यह सूत्र निरन्तर मेरे स्मृति-पटल पर नाचता रहता है और इसलिए मैं मोह-ममत्व से बचा हुआ हूं।'

सम्राट् भरत राज्य संचालन करते हुए भी अनासक्ति और निर्लेपता का जीवन जी रहे थे। भगवान् ऋषभ के दर्शन के पश्चात् तो उनकी अन्तर्मुखता दिनोंदिन बढ़ती जा रही थी। उनका प्रत्येक कार्य जागरूकता तथा सावधानीपूर्वक निष्पन्न होता था।

एक दिन सम्राट् भरत स्नानागार में स्नान कर रहे थे। स्नान के पश्चात् उन्होंने वस्त्राभूषणों से शरीर को अलंकृत किया और फिर अपने आपको देखने के लिए आदर्शगृह में चले गए। चारों ओर उनका प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बित हो रहा था। अपने रूप को देखते हुए सहसा एक प्रतिबिम्ब पर उनका ध्यान केन्द्रित हो गया। वे अपने प्रतिबिम्ब में इतने तल्लीन हो गए कि उन्हें पता ही नहीं चला कि मैं कहां खड़ा हूं। अनिमेष नेत्र अपने ही प्रतिबिम्ब को निहारते रहे। देखते-देखते

वे ध्यान की गहराई में उतर गए। स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर में चले गए। कहीं उन्हें प्रकम्पन, कहीं सूक्ष्मस्पन्दन, कहीं हलचल और कहीं घटित होने वाले विविध प्रकार के रसायन स्पष्टरूप से अनुभव हो रहे थे। ध्यान की एकाग्रता और आगे बढ़ी तो वे कर्मशरीर तक पहुंच गए। अब वे कर्मों के विपाक और वहां होने वाली सूक्ष्मतम अवस्थाओं और अनन्त-अनन्त पर्यायों का चित्रपट की भांति साक्षात्कार कर रहे थे। उनके लिए सब कुछ नया ही नया था। ऐसा नया संसार उन्होंने इससे पहले कभी नहीं देखा था। सहसा ध्यान का उत्कर्ष हुआ और वे 'अत्ताण पेहेमाणे' शरीर को देखते-देखते शुभ परिणाम, शुभ अध्यवसाय और शुभ लेश्याओं में अधिरोहण करने लगे और अन्त में वह क्षण आया जब उनके अन्तरंग शत्रु पराजित हो गए, घात्यकर्म टूटे, प्रबल कर्म निर्जरण हुआ और उनकी समग्र चेतना अनावृत हो गई।

अब वे अनन्त चतुष्टयी के आलोक में अपने महान् पिता के महान् पथ पर अग्रसर हो गए।

२. चक्रवर्ती का भोजन

'महाराज की जय हो, विजय हो', सहसा राजसभा में एक स्वर गूंजा। स्वर के साथ ही शतशः दर्शकों की आंखें उस ओर लग गईं। चक्रवर्ती सम्राट् का राज-दरबार लगा हुआ था। वे अपने सभासदों के बीच परस्पर विचार-मन्त्रणा कर रहे थे। एक दीन-हीन अकिंचन ब्राह्मण, जो भाग्य और लक्ष्मी दोनों से अभागा था, आज जन-जन का मुंहताज बना हुआ खड़ा था। दरिद्रता उसकी सहचरी बनी हुई थी और भाग्यमन्दता उसका हाथ पकड़े-पकड़े पीछे-पीछे घूम रही थी। दरिद्रता उसकी बड़ी बहिन थी तो दुर्भाग्य उसका छोटा भाई था। दोनों का वह बचपन से निर्वाह करता चला आ रहा था। लक्ष्मी ने सदा ही उसे पैरों से रौंदा और भाग्य ने कभी उसे ऊपर उठने नहीं दिया। निर्धनता के कारण उसका सर्वस्व लुट चुका था। खाने को भरपेट भोजन नहीं, शरीर ढांकने को वस्त्र नहीं और रहने को स्थान नहीं था। जैसे-तैसे वह आधा भूखा रहकर अपने दिन बिताता था। फटे-पुराने कपड़ों को पहनकर सर्दी-गर्मी से बचाव करता था और टूटी-फूटी झोंपड़ी में ही रात-बसेरा करता था। निर्धनता मानो उसके लिए एक अभिशाप बनी हुई थी। आज उस अभिशाप-मुक्ति के लिए ही वह राजदरबार में उपस्थित हुआ था।

सम्राट् ने सहसा उस व्यक्ति को देखा। शरीर के कण-कण से उसकी दरिद्रता परिलक्षित हो रही थी। सम्राट् ने उससे पूछते हुए कहा—अरे! महाभाग! आज तू यहां क्यों और किसलिए आया है?

विभो! मैं प्रभुदर्शन और प्रभु-अनुग्रह के लिए आया हूं, आप अन्तर्यामी हैं, घट-घट के ज्ञाता हैं, फिर आपसे छिपा ही क्या है? आपकी दृष्टि में ही मेरी सृष्टि निहित है। यदि आपकी मुझ पर करुणा और अनुग्रह की दृष्टि पड़ जाती है तो मैं अपने आपमें निहाल हो जाता हूं और मेरी दरिद्रता का चिरसंताप दूर हो जाता है। अब आप ही मेरे प्रतिपालक हैं, मैं आपके शरणागत हूं। आपके सिवाय अब मेरा है ही कौन?

ब्राह्मण की मृदुभाषिता तथा दरिद्रता सम्राट् के अन्तःकरण को छू गई।

उनका रोम-रोम करुणा से आप्लावित हो गया। उन्होंने प्रसन्न होते हुए ब्राह्मण से कहा—तू जो चाहे वरदान मांग ले। उसने मन ही मन सोचा कि क्या मांगूं? बहुत सोचने पर भी वह किसी निर्णय तक नहीं पहुंच सका। अन्त में उसने पत्नी से परामर्श लेना उचित समझा। राजा से कुछ समय मांगकर वह घर लौटा, पत्नी से विचार-विमर्श किया। पत्नी का अभिमत रहा कि स्वल्प धनराशि से जीवन का निर्वाह नहीं हो सकता और बड़ी राशि मांगने में अन्यान्य जोखिम बहुत हैं। वरदान हो तो ऐसा हो कि जिससे हमें भी कोई संक्लेश न हो और प्रतिदिन के झंझटों से भी मुक्ति मिल जाए। इसलिए अच्छा यही है कि प्रतिदिन प्रत्येक घर में खीर-खाण्ड का भोजन और दक्षिणा में एक-एक स्वर्ण मुद्रा मांग ली जाए। पत्नी का यह सुझाव ब्राह्मण को मान्य हो गया।

दूसरे दिन प्रातः ब्राह्मण सम्राट् के चरणों में उपस्थित हुआ और कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए उसने पत्नी द्वारा अनुमोदित प्रतिवेदन कह सुनाया। चक्रवर्ती मन ही मन उसकी इस तुच्छ अभ्यर्थना व मंदभाग्यता पर हंसे। सम्राट् बहुत कुछ दे सकते थे, पर उस मंदभाग्य से कुछ मांगा ही नहीं गया। सम्राट् ने ब्राह्मण की प्रार्थना स्वीकार कर ली और सारे नगर में उद्घोषणा करवा दी।

आज ब्राह्मण का प्रथम दिन का भोजन सम्राट् चक्रवर्ती के यहां था। बड़े आतिथ्य-सत्कार के साथ उन्हें भोजन परोसा गया। भोजन सुस्वादिष्ट तथा सुसंस्कारित था। खीर-खाण्ड का भोजन कर ब्राह्मण-दम्पती अपने आपको तृप्त मान रहे थे। जीवन में प्रथम बार ही उन्होंने ऐसा भोजन चखा था, इसलिए भूख से कुछ अधिक ही भोजन किया। भोजन के अन्त में आचमन कर और दक्षिणा में एक-एक स्वर्ण मुद्रा ले वे अपने घर लौट आए। अब वे प्रतिदिन नगर के एक-एक घर में अतिथि बनकर भोजन ग्रहण करने लगे। यह क्रम चलता रहा। कहां तो चक्रवर्ती के भोजन की सरसता, सुस्वादिष्टता तथा मधुरता और कहां अन्यान्य घरों की! चक्रवर्ती के भोजन के सामने दूसरे घरों का भोजन सर्वथा नगण्य था। अब वे सोच रहे थे—काश! चक्रवर्ती का भोजन ही मांग लिया जाता तो कितना अच्छा होता। प्रतिदिन वह खीर-खाण्ड का भोजन मिलता। किन्तु पश्चात्ताप के सिवाय अब बचा ही क्या था। बाण हाथ से छूट चुका था। अब वे प्रतीक्षारत थे कि कब हमें पुनः चक्रवती के घर का भोजन मिले। सम्राट् चक्रवर्ती के अधीन न जाने कितने ग्राम और नगर थे और उनमें हजारों-हजारों घर थे। कई जन्म भी पूरे हो जाएं तो भी चक्रवर्ती के घर का क्रम आना बहुत दुर्लभ था।

३. जमालि

'भन्ते! आप मुझे अनुज्ञा दें, मैं कुछ दिन आपसे पृथक् होकर स्वतंत्र विहरण करना चाहता हूं'—शिष्य जमालि ने भगवान् महावीर को निवेदन किया। भगवान् ने उसके कथन को सुना, किन्तु मौन रहे। उसने पुनः उसी बात को एक-दो बार दोहराया, फिर भी भगवान् ने उसके प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया। वह भगवान् का शिष्य और संसारपक्षीय में जामाता था। उभयपक्षों से सम्बन्धित जमालि अब तक भगवान् महावीर के साथ ही जनपद विहार कर रहा था। महावीर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे। वे जानते थे कि जमालि को स्वतंत्र विहार की अनुमति देना श्रेयस्कर नहीं है। स्वतंत्र विचरण वही व्यक्ति कर सकता है, जो अपने सिद्धान्त में स्थिरमति और दृढ़ है। अस्थिरमति और लचीले सिद्धान्तवाला मुनि पथच्युत हो जाता है। कोई भी नया विचार किसी भी समय उस व्यक्ति को प्रभावित कर सकता है और वह उस समय अपने आपको संभाल नहीं पाता। पर जमालि को रोका भी नहीं जा सकता था। इस दोहरी समस्या को देखकर भगवान् मौन ही रहे। मौन को अनुमति मानकर जमालि अपने पांच सौ शिष्यों को साथ ले वहां से स्वतंत्र जनपद विहार के लिए प्रस्थित हो गया।

नियति बलवान होती है, उसे टाला नहीं जा सकता। जमालि जनपद विहार करता हुआ श्रावस्ती पहुंचा और कोष्ठक चैत्य में ठहरा। एक ओर नैरन्तरिक विहार का श्रम तो दूसरी ओर असंतुलित और अव्यवस्थित भोजन की उपलब्धि। दोनों चर्याओं ने जमालि के शरीर को प्रभावित किया। वह पित्तज्वर से ग्रसित हो गया। उसका शरीर दाह से जलने लगा। शरीर में असह्य वेदना उत्पन्न हो गई। उसने श्रमणों से शीघ्रातिशीघ्र बिछौना करने को कहा। श्रमणगण उसका बिछौना बिछाने लगे। अत्यधिक बेचैनी और अकुलाहट से जमालि अधीर बना जा रहा था। उसके लिए एक-एक क्षण भी बड़ी व्यग्रता से निकल रहा था। उसने बीच-बीच में एक-दो बार श्रमणों से पूछ लिया—'क्या

बिछौना बिछा दिया है?' श्रमणों ने कहा—'भन्ते! बिछाया नहीं, बिछा रहे हैं।'

इस प्रत्युत्तर से जमालि को सहसा एक आघात लगा। अन्तःकरण विचार-तरंगों से आन्दोलित हो उठा। विचारों में आकस्मिक एक तेज तूफान आया और प्राचीन विचारों को एक नया मोड़ दे गया। प्राचीन अर्वाचीन बन गया। उसने सोचा—अरे! भगवान् महावीर क्रियमाण को कृत कहते हैं। जो किया जा रहा है, उसे किया हुआ कहते हैं। क्या यह सर्वथा निर्मूल और मिथ्या नहीं है? यह सिद्धान्त परीक्षण की कसौटी पर सही कहां उतर रहा है? मैं प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा हूं कि जो बिछौना बिछाया जा रहा है, वह बिछा ही कहां है। यदि बिछा हुआ होता तो मैं उस पर सो जाता। फिर मैं कैसे मानूं कि महावीर का यह सिद्धान्त सत्य और समीचीन है? इस विचार-क्रांति ने जमालि के अन्तःकरण को सर्वथा मोड़ दे दिया। उसने अपनी नवीन विचारधारा को श्रमणों के सम्मुख रखा। उसके नये विचार कुछेक शिष्यों को रुचिकर लगे और वे नवीनता के प्रवाह में बह गए। वे जमालि के साथ रहते हुए अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करने लगे। जिनको जमालि द्वारा प्रतिपादित विचार मान्य नहीं हुए वे पुनः भगवान् महावीर की अनुशासना में आ गये।

जमालि स्वस्थ हो गया। वह श्रावस्ती से प्रस्थान कर चम्पा में आया। भगवान् महावीर उसी नगरी के पूर्णभद्र चैत्य में विहार कर रहे थे। जमालि भगवान् के पास आया और बोला—'आपके अनेक शिष्य असर्वज्ञ रहकर अ-केवली विहार कर रहे हैं, किन्तु मैं अ-केवली विहार नहीं कर रहा हूं, सर्वज्ञ होकर केवली विहार कर रहा हूं।'

उसकी गर्वोक्ति सुनकर भगवान् के अन्तेवासी गौतम ने कहा—जमालि! केवली का ज्ञान अव्याबाधित होता है। वह किसी से आवृत नहीं होता। यदि तुम्हारा ज्ञान अनावृत है तो मेरे इन प्रश्नों का उत्तर दो—

लोक शाश्वत है या अशाश्वत?

जीव शाश्वत है या अशाश्वत?

गौतम के प्रश्न सुनकर जमालि सशंकित हो गया। वह कुछ भी उत्तर नहीं दे सका। भगवान् ने उसे मौन देखकर कहा—क्यों जमालि! क्या अपने आपको जिन या केवली कहने वाला इस प्रकार निरुत्तर होता है? इसका उत्तर तो मेरे कई छद्मस्थ साधु भी दे सकते हैं। महावीर ने उसे समझाने के लिए जीव और लोक की विशद व्याख्या की और नय के सिद्धान्त को समझाते हुए कहा—जमालि!

तुम नय के सिद्धान्त को नहीं जानते, इसलिए तुम्हें क्रियमाण कृत के सिद्धान्त में संदेह है। मैंने दो नयों का प्रतिपादन किया है—निश्चय नय और व्यवहार नय। मैंने इस सिद्धान्त का निरूपण निश्चय नय के आधार पर किया है। उसके अनुसार क्रियाकाल और निष्ठा काल अभिन्न होते हैं। प्रत्येक क्रिया अपने क्षण में कुछ निष्पन्न करके ही निवृत्त होती है। यदि क्रियाकाल में कार्य निष्पन्न न हो तो वह क्रिया के निवृत्त होने पर किस कारण से निष्पन्न होगा? वस्त्र का पहला तन्तु यदि वस्त्र नहीं है तो उसका अन्तिम तन्तु वस्त्र नहीं हो सकता। अन्तिम तन्तु का निर्माण होने पर कहा जाता है कि वस्त्र निर्मित हो गया। यह स्थूलदृष्टि है, व्यवहार नय है। वास्तविकता यह है कि तन्तु-निर्माण के प्रत्येक क्षण ने वस्त्र का निर्माण किया है। यदि पहले तन्तु के क्षण में भी वस्त्र का निर्माण नहीं होता तो अन्तिम तन्तु के क्षण में भी वस्त्र का निर्माण नहीं हो पाता।

भगवान् महावीर ने जमालि को बहुत कुछ समझाया, पर उसने अपना आग्रह नहीं छोड़ा। वह सदा के लिए भगवान् महावीर से अलग हो गया और अपने सिद्धान्त को फैलाता रहा। यह घटना भगवान् के केवली होने के चौदहवें वर्ष में घटित हुई।

प्रियदर्शना जमालि की पत्नी थी। वह जमालि के साथ ही भगवान् के पास दीक्षित हुई थी। उसने भी जमालि के विचारों से प्रभावित होकर भगवान् के संघ से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। एक बार वह अपने साध्वी समुदाय के साथ विहरण करती हुई श्रावस्ती पहुंची और ढंक कुम्हार की भाण्डशाला में ठहरी। ढंक गाथापति भगवान् महावीर का परमोपासक था। वह तत्त्वज्ञ और आगमों का ज्ञाता था। एक दिन उसने प्रियदर्शना को तत्त्व समझाने के लिए उसकी चादर पर एक अग्निकण फेंका। चादर जलने लगी। साध्वी प्रियदर्शना ने तत्काल ढंक को टोकते हुए कहा—आर्य! तुमने यह क्या किया। मेरी चादर जल गई। ढंक ने तत्काल कहा—चादर जली नहीं, वह जल रही है। आपके मतानुसार तो चादर जल चुकने पर ही आपको कहना चाहिए था कि चादर जल गई। अभी आपकी चादर जल रही है, फिर आप क्यों कहती हैं कि मेरी चादर जल गई। उसकी इस तर्कणा ने प्रियदर्शना के मानस पर एक गहरी चोट की। विचारों में परिवर्तन हुआ और वह पुनः अपनी साध्वियों सहित भगवान् महावीर के धर्मशासन में प्रविष्ट हो गई।

पारिभाषिक शब्द

अध्यवसाय–सूक्ष्मचेतना जो कर्मशरीर के साथ काम करती है।

अध्यात्म सुख–मोक्षसुख।

अनन्त पुद्गलपरावर्तन–जितने समय में जीव समस्त लोकाकाश के पुद्गलों का स्पर्श करता है उसे एक पुद्गल परावर्तन कहा जाता है। उसका कालमान अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी जितना है। जीव अनन्त पुद्गलपरावर्तन तक संसार-भ्रमण करता रहता है।

अनार्य देश–वह देश जहां म्लेच्छ आदि लोग रहते हैं, मांसाहार और हिंसा की जहां अत्यधिक प्रबलता होती है, धर्म-कर्म नहीं होता।

अनित्य भावना–पदार्थों की नश्वरता का अनुचिन्तन।

अनुत्तर विमान के देव–जो सबसे उत्तर–प्रधान होते हैं वे अनुत्तर कहलाते हैं। अनुत्तर विमानों में रहने वाले देव सब अहमिन्द्र होते हैं। उनमें शासक-शासित का सम्बन्ध नहीं होता। उनके सुख सर्वोत्कृष्ट होते हैं। अनुत्तर विमान पांच हैं–१.विजय २. वैजयन्त ३. जयन्त, ४. अपराजित, ५. सर्वार्थसिद्ध।

अन्यत्व भावना–मैं शरीर से भिन्न हूं और शरीर मुझसे भिन्न है–इस सचाई की अनुभूति करना।

अर्हत्–अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त आनन्द–इस अनन्तचतुष्टयी से संपन्न।

अलोक–जिसमें केवल आकाश होता है।

अव्रत–अविरति, अत्यागभाव।

अशरण भावना–दूसरों में अपनी अत्राणता और अशरणता का अनुचिन्तन।

अशुभ योग–मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृत्ति।

अशौच भावना–शरीर की अशुचिता के विषय में चिन्तन करना।

असत्क्रिया–पापबन्धकारक क्रिया। उसके पचीस प्रकार हैं। विस्तार के लिए देखें–(ठाणं, २-२-३७)।

आगमवाणी–वीतराग की वाणी।

आत्मगुण–ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द और शक्ति–ये आत्मा के गुण हैं।

आत्मा–चैतन्यमय शाश्वत तथ्य।

आप्त–यथार्थ को जानने वाला और उसका प्रतिपादन करने वाला।

आभ्यन्तर तप–जो मोक्ष-साधना के अंतरंग कारण हैं उन्हें आभ्यन्तर तप कहा जाता है। उसके छह प्रकार हैं–

१. **प्रायश्चित्त**–अनाचरणीय कार्य होने पर दोष-शुद्धि के लिए स्वीकार किया जाने वाला अनुष्ठान।

२. **विनय**–बड़ों के प्रति बहुमान करना, उनके प्रति होने वाली आशातना–असद्व्यवहार का वर्जन करना।

३. **वैयावृत्त्य**–आचार्य आदि की सेवा करना।

४. **स्वाध्याय**–अध्यात्म-शास्त्रों का पठन-पाठन करना।

५. **ध्यान**–आध्यात्मिक विकास के लिए मन को किसी एक आलम्बन पर केन्द्रित करना।

६. **कायोत्सर्ग या व्युत्सर्ग**–शरीर का हलन-चलन, प्रवृत्ति और कषाय आदि का विसर्जन करना।

आस्रव–जिससे कर्मों का आस्रवण–आकर्षण होता है उस आत्मपरिणाम को आस्रव कहते हैं। वे पांच हैं–

१. **मिथ्यात्व**–तत्त्व के प्रति विपरीत श्रद्धा या अरुचि।

२. **अविरति**–अत्यागवृत्ति, पौद्गलिक सुखों के प्रति अव्यक्त लालसा।

३. **प्रमाद**–धर्म के प्रति अनुत्साह।

४. **कषाय**–आत्मप्रदेशों में राग-द्वेषात्मक उत्ताप।

५. **योग**–मन-वचन-काया की प्रवृत्ति।

आस्रव भावना–कर्मों के आकर्षण के हेतुभूत साधनों का अनुचिन्तन करना।

आर्त्तध्यान–प्रिय के वियोग एवं अप्रिय के संयोग के लिए निरन्तर एकाग्रचित्त होना, शारीरिक, मानसिक रोगों से मुक्ति पाने के लिए निरन्तर चिन्तित रहना तथा अप्राप्त भोगों को प्राप्त करने के लिए निदान–तीव्र संकल्प करना, मन का उसी में नियोजन करना आर्त्तध्यान है।

आर्य देश–वह देश जहां सात्त्विक प्रकृति वाले लोगों की बहुलता होती है, धर्म-कर्म की प्रधानता होती है। जैन इतिहास के अनुसार साढ़े पचीस आर्य देश माने गए हैं।

आहार संज्ञा–संज्ञा का अर्थ है–आसक्ति या मूर्च्छा। यह प्राणी की मौलिक-वृत्ति है। आहार संज्ञा अर्थात् आहार के प्रति आसक्ति का होना।

इन्द्रिय–प्रतिनियत अर्थ को ग्रहण करने वाली चेतना। वे पांच हैं–स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र।

एकत्व भावना–अपने आपमें अकेलेपन का अनुभव करना।

कर्म–प्राणी की शुभ-अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा गृहीत पुद्गल-स्कन्ध, जो आत्मा के मूल गुणों को आच्छन्न, विकृत और प्रभावित करते हैं, वे कर्म कहलाते हैं।

कर्मनिर्जरा भावना–कर्मनिर्जरा के हेतुभूत तप के विविध पहलुओं का अनुचिन्तन करना।

कर्मरज–कर्मपुद्गल।

कर्मविपाक–जब कर्म उदय में आकर अपना फल देते हैं, उस अवस्था को कर्म-विपाक कहा जाता है।

कलहंसवृत्ति–एक जाति का हंस जिसके पंख अत्यन्त धूसर रंग के होते हैं, वह कलहंस कहलाता है। उसकी क्षीर-नीर-विवेक की वृत्ति को कलहंसवृत्ति कहा जाता है।

कषाय–आत्मा का रागद्वेषात्मक उत्ताप। कषाय चार हैं–क्रोध, मान, माया और लोभ।

कायस्थिति–एक ही जीवनिकाय में निरन्तर जन्म-ग्रहण करते रहने की कालमर्यादा।

कारुण्यभावना–दुःखी प्राणियों को देखकर द्रवित होना, दयाभाव से ओतप्रोत हो जाना।

केवली समुद्घात–समुद्घात की चार परिभाषाएं हैं–

• सामूहिकरूप से बलपूर्वक आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर निकालना या उनका इधर-उधर प्रक्षेपण करना।

• वेदना आदि निमित्तों से आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना।

• कर्मों की स्थिति और अनुभाग का समीकरण होना।

• मूलशरीर को न छोड़कर तैजस और कार्मण शरीर के साथ जीव-प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना।

समुद्घात के सात प्रकार हैं–वेदनीय, कषाय, मारणान्तिक, वैक्रिय, तैजस, आहारक और केवली। प्रथम छह समुद्घात छद्मस्थ के होते हैं और अन्तिम समुद्घात केवलियों के ही होता है। जब केवली के वेदनीय कर्म अधिक हों और आयुष्य कर्म कम, तब दोनों को समान करने के लिए स्वभावतः आत्मप्रदेश समूचे लोक में फैलते हैं, वह केवली समुद्घात है। उसमें जीव के प्रदेश प्रथम चार समयों में दण्ड, कपाट, मन्थन और अन्तरावगाह (कोणों का स्पर्श) कर सम्पूर्ण लोकाकाश का स्पर्श कर लेते हैं। शेष चार समय में क्रमशः वे आत्मप्रदेश सिमटते हुए पुनः शरीर में अवस्थित हो जाते हैं। यह समुद्घात आयुष्य के अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहने पर होता है।

क्षपकश्रेणी–आठवें गुणस्थान से ऊर्ध्वगमन करने वाला जो साधक मोहकर्म को क्षीण करता हुआ आगे बढ़ता है, उसे क्षपक श्रेणी कहते हैं। वह उत्तरोत्तर गति करता हुआ मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

गन्धहस्ती–वह हाथी जिसके शरीर से निकलने वाली तीव्र गन्ध अन्यान्य हाथियों को निर्वीर्य कर देती है।

गौरव–अभिमान से उत्तप्त चित्त की अवस्था। वह तीन प्रकार का है–

१. **ऋद्धि गौरव**–ऐश्वर्य का अभिमान।

२. **रस गौरव**–रस का अभिमान।

३. **सात गौरव**–सुख-सुविधाओं का अभिमान।

चक्रवर्ती–छह खंड का अधिपति और अनेक ऋद्धि-सिद्धियों से सम्पन्न पुरुष चक्रवर्ती कहलाता है।

चारित्र धर्म–आचारात्मक धर्म। उसके दस प्रकार हैं–क्षमा, सत्य आदि।

चिदानन्दमय–केवल चैतन्यमय और आनन्दमय।

चौरासी लाख–पृथ्वीकाय के मूलभेद ३५० हैं। इनको अनुक्रम से पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस, आठ स्पर्श और पांच संस्थान से गुणा करने पर पृथ्वीकाय की सात लाख जातियां बनती हैं। इसी प्रकार अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय के भी मूलभेद ३५० हैं। इनको भी पूर्वोक्त विधि से गुणा करने पर प्रत्येक की सात-सात लाख जातियां बनती हैं। प्रत्येक वनस्पति के मूल-भेद ५००, साधारण वनस्पति के ७००, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रिय के १००, नारक, देवता व तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय के २०० तथा मनुष्य के ७०० मूलभेद हैं। पूर्व प्रक्रिया वर्ण, गंध आदि से गुणन करने पर क्रमशः इनकी संख्या दस लाख, चौदह लाख, दो लाख, दो लाख, दो लाख, चार लाख, चार लाख, चार लाख, चौदह लाख जातियां होती हैं। सबको मिलाने पर चौरासी लाख योनियां हो जाती हैं।

जिनधर्म–अर्हत् द्वारा प्रतिपादित धर्म।

ताप–क्रोध, मान आदि कषाय चतुष्क का उत्ताप।

तिर्यञ्च–एक, दो, तीन, चार इन्द्रिय वाले सभी जीव तथा पांच इन्द्रिय वाले स्थलचर–भूमि पर चलने वाले, खेचर–आकाश में उड़ने वाले तथा जलचर–पानी में रहने वाले जीव।

तीन गुप्ति–मन, वचन और काया का गोपन–संवरण।

तीर्थंकर–तीर्थ के दो अर्थ हैं–प्रवचन और चतुर्विध संघ। जो इनके कर्त्ता हैं वे तीर्थंकर कहलाते हैं।

प्रवचन का अर्थ है–शास्त्र।

जिस संघ के चार घटक–साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका–होते हैं वह चतुर्विध संघ कहलाता है।

त्रस-स्थावर–जो जीव हित की प्रवृत्ति और अहित की निवृत्ति के लिए गमनागमन करते हैं, वे त्रस हैं। वे दो-तीन-चार या पांच इन्द्रियों वाले होते हैं। जो गतिशील नहीं हैं, वे स्थावर हैं।

उनमें एक ही इन्द्रिय होती है। उनके पांच प्रकार हैं–पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय।

दसांग सुख—सुख के दस प्रकार हैं—१. आरोग्य, २. दीर्घ आयुष्य, ३. धन की प्रचुरता, ४-५. काम और भोग की प्रचुरता, ६. अल्प इच्छा या संतोष, ७. अस्ति—आवश्यकता की पूर्ति होना, ८. शुभभोग—रमणीय विषयों का भोग, ९. प्रव्रज्या, १०. मोक्षसुख।

दान्त—इन्द्रियों पर नियन्त्रण करने वाला।

द्रव्य—जिसमें गुण और पर्याय दोनों होते हैं उसे द्रव्य कहते हैं। उनका अस्तित्व त्रैकालिक होता है, द्रव्य छह हैं—

१. **धर्मास्तिकाय**—जीव और पुद्गल की गति में सहायक बनने वाला द्रव्य।

२. **अधर्मास्तिकाय**—जीव और पुद्गल की स्थिति में सहायक होने वाला द्रव्य।

३. **आकाशास्तिकाय**—जीव और पुद्गल को अवकाश या आश्रय देने वाला द्रव्य।

४. **काल**—परिणमन का हेतुभूत द्रव्य, काल्पनिक द्रव्य।

५. **पुद्गल**—जो वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से युक्त है और जिसमें मिलने और पृथक् होने का स्वभाव है।

६. **जीव**—चेतन द्रव्य।

द्वादश रन्ध्र—दो कान, दो आंख, दो नथुने, एक मुंह, दो स्तन, मलद्वार, मूत्रद्वार और योनि द्वार—ये बारह रन्ध्र स्त्री के होते हैं। उनसे प्रतिपल अशुचि का क्षरण होता रहता है।

धर्म—वह साधन जिससे आत्मा की शुद्धि होती है।

धर्मध्यान—जितनी आत्माभिमुख एकाग्रता है वह धर्मध्यान है। वह मोक्ष का कारण है, अतः उपादेय है। उसके चार भेद हैं—

१. **आज्ञाविचय**—वीतराग की आज्ञा पर चिन्तन करना।

२. **अपायविचय**—दोषों के स्वरूप का विमर्श करना।

३. **विपाकविचय**—कर्म के विपाकों का अनुचिन्तन करना।

४. **लोकविचय**—लोक के संस्थान आदि पर एकाग्र होना।

धर्म भावना–लक्ष्य तक पहुंचाने वाले क्षमा-सत्य आदि साधनभूत तत्त्वों का अनुचिन्तन करना।

नरक योनि–योनि का अर्थ है–उत्पत्ति स्थान। रत्नप्रभा आदि सात नरक स्थान हैं।

नवरन्ध्र–दो कान, दो आंख, दो नथुने, मुंह, मलद्वार और मूत्रद्वार–ये नौ रन्ध्र पुरुष के होते हैं।

निगोद–जीवों का अक्षय भंडार, इसे अव्यवहार राशि भी कहा जाता है, सारे जीव इसी से उत्क्रान्ति कर व्यवहार राशि–द्वीन्द्रिय आदि में आते हैं।

व्यवहार राशि से जितने जीव सिद्ध गति में जाते हैं, उतने जीव निगोद से निकलकर व्यवहार राशि में आ जाते हैं।

नित्य–जिसमें कोई परिवर्तन न हो, जो सदा एकरूप रहता हो।

निर्ग्रन्थ–ग्रन्थिमुक्त, मुनि।

निर्जरा–कर्मों के निर्जरण से होने वाली आत्मिक शुद्धि।

नियति–निश्चित घटित होने वाली घटना।

निष्काम तप–बिना किसी आकांक्षा–प्रयोजन से केवल आत्मशोधन के लिए किया जाने वाला तप।

परमात्मा–आत्मा का वह परम–उत्कृष्ट रूप, जहां सारे विभाव नष्ट होकर स्वभाव प्रकट हो जाते हैं।

पर्याप्त–पर्याप्ति का अर्थ है–जीवनोपयोगी पौद्गलिक-शक्ति। वे छह हैं–आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन।

जिस जन्म में जितनी पर्याप्तियां प्राप्त करनी होती हैं उनको पूरा करने वाला जीव पर्याप्त कहलाता है।

पुद्गल–स्पर्श, रस, गंध, वर्णयुक्त पदार्थ।

पौद्गलिक सुख–पदार्थों के संयोग से मिलने वाला सुख।

प्रमोद भावना–दूसरों के गुणों को देखकर मन ही मन प्रसन्न होना।

बाह्य तप–जो मोक्ष-साधना में बाहरी कारण हैं, उन्हें बाह्य तप कहा जाता है। उसके छह प्रकार हैं–

१. **अनशन**–तीन या चार आहारों (अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य) का

त्याग करना अनशन है। यह कम से कम एक दिन का और अधिक से अधिक जीवनपर्यन्त होता है। जिसे संथारा भी कहा जाता है।

२. **ऊनोदरी**–आहार, पानी आदि की न्यूनता करना।

३. **वृत्तिसंक्षेप**–विविध प्रकार के अभिग्रहों से वृत्ति–चर्या का संक्षेप करना।

४. **रस परित्याग**–दूध, दही, घी आदि विकृतियों का त्याग करना।

५. **संलीनता**–इन्द्रियों के विषयों का प्रतिसंहरण करना या बहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाना।

६. **कायक्लेश**–कायोत्सर्ग आदि आसनों से शरीर को साधना या शरीर के ममत्व को त्यागना।

बोधि–इसका एक अर्थ है–जागरण, सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना। दूसरा अर्थ है–आत्मबोध या मोक्षमार्ग। आत्मा को जानना-देखना और आत्म-रमण करना।

बोधिदुर्लभ भावना–बोधि–सम्यक्त्व या सही दृष्टिकोण की दुर्लभता का बार-बार चिन्तन करना।

ब्रह्म लोक–पांचवां देवलोक।

ब्रह्माद्वैत–एक ब्रह्म को ही परम तत्त्व स्वीकार करने वाला सिद्धान्त।

भव भावना–संसार की नाना परिणतियों तथा जन्म-मरण के चक्र से होने वाले विविध परिवर्तनों का चिन्तन करना।

भवस्थिति–एक जन्म में रहने की काल मर्यादा।

भावना–जिसका बार-बार आसेवन या अभ्यास किया जाए, उसे भावना कहते हैं।

महानरक–रत्नप्रभा आदि सात नारकियां हैं। उनमें पांचवीं, छठी और सातवीं महानरक हैं।

माघवति–गोत्र के आधार पर यह सातवीं नरक का नाम है।

माध्यस्थ्य भावना–प्रियता और अप्रियता के संवेदन से शून्य उपेक्षावृत्ति का अनुचिन्तन।

मार्गानुसारी–जो सम्यग्दृष्टि नहीं है, किन्तु मोक्षमार्ग का अनुसरण करने वाली क्रिया करता है उसका नाम है मार्गानुसारी।

मिथ्यात्व–विपरीत दृष्टिकोण। धर्म को अधर्म, मार्ग को अमार्ग आदि मानना मिथ्यात्व है।

मृग-मरीचिका–मिथ्याभ्रम।

मैत्री भावना–दूसरों का हितचिन्तन करना, कल्याण की भावना रखना।

मोक्ष सुख–मुक्ति का सुख, अनाबाध सुख।

मोह–जीव के दर्शन (श्रद्धा) और चारित्र को आच्छादित कर आत्मा को व्यामूढ़ बनाने वाला कर्म।

योग–प्रवृत्ति। उसके तीन प्रकार हैं–मन की प्रवृत्ति, वचन की प्रवृत्ति और काय की प्रवृत्ति।

रज्जु–असंख्य योजन जितने क्षेत्र-मान को रज्जु कहते हैं। अथवा कोई व्यक्ति एक निमेष में एक लाख योजन की गति करता है। इस गति से छह महीनों में अवगाहित क्षेत्र को एक रज्जु कहते हैं।

रत्नत्रय–सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र–इस त्रिपदी का संयुक्त नाम।

रागद्वेष–प्रियता और अप्रियता का संवेदन।

रौद्रध्यान–हिंसा, असत्य, चोरी एवं विषय-भोगों की रक्षा के लिए की जाने वाली एकाग्र-चिन्ता।

लब्धि–योग के अभ्यास से प्राप्त होने वाली विशिष्ट शक्ति।

लोक–जिसमें धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव–ये छह द्रव्य होते हैं।

लोकपुरुष–जैनदर्शन में लोक को पुरुषाकार मानकर उसकी व्याख्या की है। उसके तीन भाग हैं–ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक।

लोक भावना–पुरुषाकाररूप लोक की विविधता का अनुचिन्तन करना, उसमें एकाग्र होना।

वर्णस्थान–शब्दोच्चारण के आठ स्थान ये हैं–कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ, जिह्वामूल, नासिका और उर।

विकथा–कथा का अर्थ है–चर्चा, आलोचना।

वर्जनीय कथा को विकथा कहा जाता है।

वह चार प्रकार की है–स्त्रीकथा, भक्तकथा (भोजनकथा), देशकथा, राजकथा।

विषयलोलुप–इन्द्रिय-विषयों के उपभोग की तीव्र-लालसा, पदार्थासक्ति।

शान्त–जिसके कषाय शान्त हैं।

शुद्धयोग–मन, वचन और काया की शुभ प्रवृत्ति।

शुभकर्म–पुण्यकर्म।

शौचवाद–जो वाद या दर्शन शरीर आदि की शुचि–शुद्धता में ही विश्वास करता है।

श्रुत–इन्द्रिय ज्ञान का एक प्रकार, परोक्ष ज्ञान, आगम।

षट्खंड–भरतक्षेत्र के मध्य में वैताढ्य पर्वत स्थित होने पर वह दो भागों में बंट जाता है। दक्षिणार्ध भरत और उत्तरार्ध भरत। उत्तर में भरतक्षेत्र की हद पर चुल्ल हिमवान् पर्वत है। इस पर्वत पर पद्म नाम का एक द्रह है। उसके पूर्व द्वार से गंगा और पश्चिम द्वार से सिन्धु नामक दो नदियां वैताढ्य पर्वत के नीचे से निकलती हैं और लवणसमुद्र में जा मिलती हैं। इस प्रकार वैताढ्य पर्वत और गंगा एवं सिन्धु नदी के कारण भरतक्षेत्र छह विभागों में बंट जाता है, उनको षट्खंड–छह खंड कहा जाता है।

संयम–आत्म-नियन्त्रण।

संवर–कर्म का निरोध करने वाले आत्म-परिणाम।

संवर भावना–आश्रवों का निरोध करने वाले उपायों का अनुप्रेक्षण करना।

संसार–जिसमें जीव संसरण करते हैं–जन्म-मरण करते हैं।

समता–प्रियता और अप्रियता के संवेदन से शून्य स्थिति।

समनस्क–मन वाले प्राणी।

समाधि–चित्त की समाहित अवस्था।

सम्यक्त्व–यथार्थ दृष्टिकोण।

सात पृथ्वियां–नीचे लोक में जो सात पृथ्वियां हैं उन्हें नरक कहा गया है। वे सात

हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा।

साधु—जैन दृष्टि के अनुसार जो पांच महाव्रतों की आराधना करते हैं तथा साधना का उपदेश देते हैं।

सिद्ध—सभी कर्म-बन्धनों से मुक्त।

सिद्धशिला—सर्वार्थसिद्ध विमान से बारह योजन ऊपर पैंतालीस लाख योजन की लम्बी-चौड़ी गोलाकार सिद्धशिला है। वह मध्य में आठ योजन मोटी और चारों ओर से क्रमशः घटती-घटती किनारे पर मक्खी के पंख से भी अधिक पतली है। उसके एक योजन ऊपर अग्रभाग में पैंतालीस लाख योजन लम्बे-चौड़े और ३३३ धनुष तथा ३२ अंगुल जितने ऊंचे क्षेत्र में अनन्त सिद्धों का निवास है। इसे मुक्ति या सिद्धालय भी कहा जाता है।

सिद्धि—अलौकिक शक्ति। इसके आठ प्रकार हैं—लघिमा, वशिता, गरिमा, ईशित्व, प्राकाम्य, महिमा, अणिमा, यत्रकामावसायित्व।

सुविहित—आचार-सम्पन्न मुनि।

●

भावना या अनुप्रेक्षा एक आध्यात्मिक चिकित्सा-पद्धति है। यह जीवन को रूपान्तरित करने की प्रक्रिया है। जैन-साधना-पद्धति में दोनों का ही विशेष महत्त्व रहा है। जब तक भावधारा को नहीं बदला जाता तब तक मनुष्य का आचार और व्यवहार भी नहीं बदल सकता। पाश्चात्य देशों में भावधारा का परिवर्तन करने के लिए ब्रेनवाशिंग (Brain washing) का प्रयोग किया जा रहा है तथा सजेस्टोलोजी के प्रयोग काम में लिए जा रहे हैं। मन की मूर्च्छा तोड़ने वाले विषयों का अनुचिन्तन करना अनुप्रेक्षा है और स्वयं को अनुप्रेक्षा से बार-बार भावित करना भावना है। साधना-जगत् में यह पद्धति कांटे से कांटा निकालने की है। जब तक मूढता का वलय नहीं टूटता तब तक यथार्थता प्रकट हो नहीं पाती, सचाई भीतर ही भीतर आवृत रह जाती है। अनुप्रेक्षा उस सचाई को प्रकट करने का एक साधन है। यथार्थता की ज्योति, जो मूर्च्छा की राख से ढंकी हुई है, उसे अनावृत करने का एक माध्यम है अनुप्रेक्षा।

अमृतम्

'शान्तसुधारस' गीर्वाण वाणी में गेयकाव्य है। इसकी रचना हमारे संघनिर्माण से पहले की है, पर इसका प्रचलन तेरापंथ संघ में अधिक हुआ है। यहां इसके मूलस्रोत पूज्य गुरुदेव कालूगणी रहे हैं। सैकड़ों साधु-साध्वियों ने इसको याद किया है।
यह काव्य संगान में जितना मधुर है उतना ही भावपूर्ण है। संगायक और श्रोता तन्मय होकर इसके प्रवाह में बह जाते हैं।

गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी

प्रस्तुत ग्रन्थ संस्कृत गेयकाव्य की परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण कृति है। प्राञ्जल भाषा, सशक्त अभिव्यक्ति, भाव की गम्भीरता और प्रसन्नशैली—ये सब विशेषताएं प्राप्त हैं। शान्तरस से परिपूर्ण इस रचना में प्रेरक शक्ति का प्रवाह है। उपाध्याय विनयविजयजी ने कुछ पद्य तो बहुत ही मार्मिक लिखे हैं। वे वर्तमान समस्या पर बड़े सटीक बैठते हैं।

आचार्य महाप्रज्ञ

'शान्तसुधारस भावना' एक सुन्दर ग्रन्थ है। संस्कृत भाषा के विद्यार्थियों के लिए तो इसे कंठस्थ करना बहुत उपयोगी है। इसके अर्थ की अनुप्रेक्षा से वैराग्यभाव की वृद्धि हो सकती है। अध्यात्मरसिकों को यह ग्रन्थ पवित्र सम्पोषण प्रदान करे।

आचार्य महाश्रमण

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

9 788171 960217

₹ 70.00